मनुष्य और जगत्

वेदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष

यशदेव शल्य

मनुष्य और जगत्

★

यशदेव शल्य

मनुष्य और जगत्

यशदेव शल्य

धनु प्रकाशन

प्रस्तुत पुस्तक की विशेषता विचार की अभिनवता में है। इसमें प्राचीन वेदान्ताचार्यों के सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं होकर उस दृष्टि का आत्मसात्करण और नवस्फुरण हुआ है। लेखक के अनुसार जगत् मिथ्या उपाधि नहीं होकर चित् का जगद्-भाव है और मनुष्य जगद्भाव से निवर्तमान जगद्गत चित्। इस प्रकार प्रस्तुत लेखक के अनुसार मनुष्य में अध्यवसायात्मक ज्ञान और सृजनात्मकता : कला, विज्ञान, दर्शन, नीति, धर्म, समाज आदि सबः चित् की प्रत्यङ्मुखता या आत्मोन्मुख निवर्तन के द्योतक हैं।

श्री शल्य भारतीय और पाश्चात्य दोनों दर्शन-धाराओं से सुपरिचित हैं, किन्तु इसमें भी एक भेद के साथ— उन्होंने इनका अध्ययन विद्वता के लिए नहीं बल्कि अपनी दृष्टि की प्रांजलता के लिए ही किया है। किस प्रकार उनका दार्शनिक अध्ययन वास्तव में उनके दार्शनिक चिन्तन का अंग है, यह इस पुस्तक के अंतिम अध्याय से देखा जा सकता है।

यद्यपि यह पुस्तक परिनिष्ठित दार्शनिक चिन्तकों के लिए लिखी गई है, किन्तु यह अन्य प्रबुद्ध पाठकों के लिए भी कम रोचक नहीं होगी।

मूल्य चालीस रुपये

[illegible]



भगवती

रानी बेटी

को

मनुष्य और जगत्

वैदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष

यशदेव शल्य



इन्दु प्रकाशन, दिल्ली-७

८/३ रूपनगर, दिल्ली-
(११०००७)

प्रथम संस्करण :
१९८५

मूल्य :
चालीस रुपये

मुद्रक :
लक्ष्मी कम्पोजिंग एजेन्सी,
बाबरपुर रोड, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

प्रकाशकीय

श्री यशदेव शल्य हिन्दी माध्यम से दर्शनशास्त्र के अध्येताओं के लिए अपरिचित नहीं है। दार्शनिक त्रैमासिक के प्रधान सम्पादक के रूप में आपने दर्शन शास्त्र के नवलेखन को एक नई दिशा दी है। उनका यह ग्रन्थ उनके पूर्व प्रकाशित निबन्धों का एक संकलन है। इनका प्रकाशन अलग-अलग समय में विभिन्न पत्रिकाओं में हुआ था। उन्हें ही विविध अध्यायों के रूप में यहां संकलित किया गया है। इनका विवरण निम्नांकित है—

(१) मनुष्य और जगत् (अध्याय-१) दार्शनिक त्रैमासिक जुलाई अक्टूबर, १९८०

(२) आत्म और अनात्म (अध्याय-२) दार्शनिक त्रैमासिक अक्टूबर, १९७५

(३) कलासर्जन (अध्याय-४) परामर्श मार्च, १९८२

(४) प्रत्यङ्मुख चैतन्य : दर्शन का आरम्भ बिन्दु (अध्याय-६) परामर्श जून, १९८१

(५) धर्म दर्शन (अध्याय-७) परामर्श दिसम्बर, १९८०

(६) मनुष्य, इतिहास तथा समाजविषयक वेदान्तिक अवधारणा (अध्याय-८) विश्वभारती जर्नल आफ फिलासफी (अंग्रेजी अनुवाद) फरवरी, १९७४

(७) तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा (अध्याय-९) दार्शनिक त्रैमासिक जनवरी, अप्रैल, १९८०

इन सात निबन्धों के अतिरिक्त अध्याय ३ एवं ५ में संकलित जगद्-वासना एवं जगच्चैतन्य का जगद् विवर्त्त निबन्ध नवीन हैं।

ये सभी निबन्ध जिस रूप में प्राप्त हुए उस रूप में उनका अविकल मुद्रण होने पर ग्रन्थकार ने परिष्कार की दृष्टि से, जो लेखक का सहज धर्म है, पुनः संशोधन करना उचित समझा है, उसे यथा सम्भव शुद्धि पत्र देने का प्रयत्न किया गया है। कुछ संशोधन देना सम्भव नहीं भी हो पाया है, इसके लिए हम लेखक से क्षमा चाहते हैं। आशा है कि द्वितीय संस्करण में अपेक्षित परिवर्तन दिये जा सकेंगे।

इस पुस्तक के प्रकाशन का संकल्प १९८१ के मध्य में किया गया था, किन्तु दुर्भाग्य के कारण एक-एक करके अनेक असुविधाएं आती रहीं और अन्त में विवश होकर इलाहाबाद स्थित शाकुन्तल मुद्रणालय, से मुद्रण कार्य दिल्ली स्थानान्तरित करके इसे पूर्ण किया जा सका है। मध्य में मुद्रक प्रकाशक और लेखक के बीच अनेक बार कटु मधु सम्बन्ध बनते-बिगड़ते रहे और अन्ततः किसी प्रकार बहुत प्रतीक्षा के बाद यह पुस्तक पाठकों के हाथ में प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

भ्रातृ कृष्ण द्वितीया **दिवाकर अवस्थी**
सं० २०४१

प्राक्कथन

मेरी पिछली पुस्तक **विषय और आत्म** १९७२ में प्रकाशित हुई थी, यह पुस्तक अब १९८५ में प्रकाशित होने जा रही है। किन्तु इसका लेखन मुख्य रूप से १९७९ में, मेरे पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में अतिथि-अध्यापक के रूप में रहने की अवधि में, हुआ था। इसका यह अर्थ नहीं है कि बीच के इन सात वर्षों में मैंने कुछ लिखा ही नहीं, किन्तु जो लिखा उसमें अधिकांश का प्रकाशन नहीं कराया।

अधिकांश दार्शनिक बन्धु मुझे १९६१ में प्रकाशित मेरी पुस्तक **दार्शनिक विश्लेषण** के लेखक के रूप में ही जानते हैं जबकि उसके बाद मेरी तीन पुस्तकें और प्रकाशित हुईं, जिनके प्रायः सभी अध्याय पहले दार्शनिक त्रैमासिक में भी प्रकाशित हुए। किन्तु तब भी किसी को यह आभास तक नहीं है कि मेरे विचारों में किस प्रकार आधारभूत परिवर्तन हुआ है। इससे हमारे देश के दार्शनिक लेखक, विशेषतः हिन्दी माध्यम से दार्शनिक लेखन करने वाले लेखक, के भाग्य का अनुमान करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। किन्तु इस नियति से आरम्भ से परिचित होने पर भी मैं लिखने से कभी विरत नहीं हुआ, क्योंकि मुझे लिखने में सृजन-सुख मिलता है। इसके अतिरिक्त, कुछ मित्र सुझाव देने के अनुरोध पर कभी कुछ पढ़ भी लेते हैं, उनसे सुझावों के साथ अनुशंसा मिलने पर सफलता का अनुभव होता ही है। इनमें डा० नारायणशास्त्री द्रविड़, डा० गोविन्दचंद्र पांडे, डा० दयाकृष्ण तथा डा० नन्दकिशोर शर्मा के नाम विशेष कृतज्ञतापूर्वक उल्लेखनीय हैं।

यहां पुस्तक के शीर्षक और उपशीर्षक के सम्बन्ध में भी दो शब्द कहना अनुपयुक्त नहीं होगा। शीर्षक चिन्तन के लक्ष्य का द्योतक है, उपशीर्षक उसके मार्ग का। किन्तु यह पुस्तक किसी वेदान्तिक ग्रंथ या ग्रंथों का विवेचन नहीं है, इसमें अपना ही विचार और अनुभव कहा गया है, जिसके बनने में भी कोई ग्रन्थ, कम से कम प्रत्यक्ष रूप से, बहुत सहायक नहीं रहा है। वास्तव में दर्शन इस दृष्टि से काव्य के बहुत निकट है कि, काव्य के समान ही यह भी चेतना के स्वातंत्र्य से उद्गत होता है। तो भी, मुझे उपनिषदों से बहुत प्रेरणा मिली है और लिखते या सोचते समय इनके मंत्र बीच-बीच में कौंध कर विचार को उद्भासित कर देते रहे हैं। दार्शनिकों में मुझे किससे विशेष प्रेरणा मिली है यह मैं नहीं कह सकता। किन्तु तब भी मैंने कांट, फिख्ते और शैलिंग[1]

---

1. डॉ० दयाकृष्ण द्वारा संपादित **पाश्चात्य दर्शन का इतिहास**, खण्ड २ में संकलित, (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर से शीघ्र प्रकाश्य)

पर लेख लिखे; शंकर, सांख्य, डेकार्ट, और वसुबन्धु पर लिखने-समझने में मैंने अपनी लड़की भगवती की सहायता की, और प्लेटो को भी बहुत चाव से पढ़ा, जितना भी पढ़ा। सो, इनके जाने-अनजाने प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

यहां यह कहना भी अस्थाने नहीं होगा कि **दार्शनिक विश्लेषण** से इस पुस्तक तक, और इसके आगे के लेखन में, मेरे विचारों में एक नैरन्तर्य है। **दार्शनिक विश्लेषण** के अन्तिम अध्याय में मैंने इस सम्प्रदाय के दार्शनिक आधार अनुभववाद को अपर्याप्त और पूर्वाग्रह-ग्रस्त पाया था। इस आलोचना के आधार में निहित युक्ति के अनुसार मेरे चिन्तन का जो विकास हुआ उसको अभिव्यक्ति **ज्ञान और सत्** तथा **संस्कृतिः मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या** पुस्तकों में मिली। इन पुस्तकों में मैंने विषयावधारण को ही सर्वतंत्र मानकर सत्तात्मक और मूल्यात्मक सापेक्षतावाद का प्रतिपादन किया और चित्-अचित् दोनों को विषय में समाहित कर विषयी को रिक्त आकारमात्रता में घटा दिया। किन्तु आगे चलकर यह स्थिति सन्तोषप्रद नहीं लगी। सो, **विषय और आत्म** में मैंने ज्ञान-विषय और उसके विषयी को परस्पर सापेक्ष रखकर भी विषयी को गुरुत्व दिया और मूल्यान्वेषी के रूप में उसे सत्ता भी दी। किन्तु द्रष्टव्य है कि यह सत्ता भावात्मक :वस्तु-रूप: नहीं हो कर भाव्यात्मक थी। प्रस्तुत ग्रन्थ में ज्ञान-ज्ञेय, तथा पर्येषणा और पर्येष्य-मूल्य सब सत्तापूर्वक हैं, और सत्ता चित्स्वरूप है। इस दृष्टि का आगे विकास मेरे सम्प्रति लेखनाधीन ग्रन्थ **सत्ता-विषयक अन्वीक्षा** में हो रहा है।

इधर मेरी लेखन-शैली में एक बड़ा परिवर्तन आया है; यह अधिक संक्षिप्त और व्यंजनात्मक हो गयी है और पाठक से कल्पना के उपयोग की अपेक्षा इसमें बहुत बढ़ गई है, उसमें सहयोग के बिना मेरा वर्तमान लेखन बहुत दुर्बोध है। आगे मैं इसमें सुधार का प्रयत्न कर रहा हूँ।

यहां यदि मैं डॉ० भुवनचन्देल तथा डॉ० धर्मेन्द्र गोयल के प्रति अपना आभार व्यक्त नहीं करता हूँ, जिनके कारण मैं पंजाब विश्वविद्यालल में आमंत्रित हुआ और प्रस्तुत पुस्तक का अधिकांश भाग लिख पाया, तो मैं उऋण नहीं हो सकता। किन्तु भुवन जी के प्रति मेरा आभार इससे अतिरिक्त भी है और अपरिमेय भी, जिनसे मुझे लोक-दुर्लभ आत्मीयता मिली : चंडीगढ़-निवास की अवधि में मैं उनके परिवार के सदस्य जैसा था।

यहां प्रो. के. सच्चिदानन्द मूर्ति का स्मरण भी सहज ही हो आता है, जिनका अहैतुक स्नेह और प्रोत्साहन मुझे सदैव एक कृतार्थता का भाव देता रहा है। अन्त में इन्दु प्रकाशन दिल्ली के प्रति हार्दिक आभार प्रगट करना चाहूँगा, जिनके प्रयत्न से यह ग्रन्थ वर्तमान स्वरूप पा सका है।

पी-५१, मधुवन पश्चिम,
टोंक रोड, जयपुर-३०२०१५ यशदेवशल्य
११-४-१९८४

विषय सूची

१

मनुष्य और जगत्

'मनुष्य क्या है' इस प्रश्न के उतने ही उत्तर दिये गए हैं, जितने 'सत् क्या है' इसके दिये गए हैं। इसका कारण यह है कि दर्शन का वास्तव में परम ज्ञेय, परम प्रमेय, अन्त में मनुष्य ही है। ऐसा कहना तो सम्भवतः ठीक नहीं होगा कि सभी दर्शन-सम्प्रदाय अपनी जाँच और मीमांसा मनुष्य से ही आरम्भ करते हैं, किन्तु यह सही है कि अपनी जाँच के परिणामस्वरूप वे सत्ता का जितना भी विस्तार पाते हैं, मनुष्य उन्हें उससे विस्तृततर ही मिलता है, और इस प्रकार उनके सामने वह अपने शेष अंश के समाहार की, व्याख्या की, समस्या उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए, यदि सत्ता केवल भौतिक है, तो मनुष्य में चेतना उससे अतिरिक्त है, यदि सत्ता मात्र चैतन्य है, तो मनुष्य में भौतिकता का अंश भी है, यदि वह दोनों है, तो मनुष्य में ये दो अलग-अलग नहीं होकर संयुक्त मिलते हैं और इस प्रकार इस संयोग की व्याख्या की अपेक्षा करते हैं। इसी प्रकार, यदि सत्ता विषयापेक्षी चैतन्य-रूप है, तो मनुष्य में विषयता से मुक्ति की, अतिक्रमण की, आकांक्षा भी है, और यदि सत्ता निरपेक्ष चैतन्य है तो मनुष्य में विषयापेक्षा भी है। यदि सत्ता नित्य है, तो मनुष्य में ऐतिहासिकता और भाव्यता भी है, और यदि क्षणिक है, तो वह स्मृति और अपेक्षा के द्वारा एक ओर, और बोध के द्वारा दूसरी ओर अपनी स्थायिता और कालातीतता की स्थापना करता है। वास्तव में मनुष्य के स्वरूप की यह अनवगाह्यता और अनाकलनीयता ही दार्शनिक सिद्धान्तों की अनेकता की कारण है, क्योंकि इसप्रकार वह विभिन्न ही नहीं, आपस में बहुत विरोधी सिद्धान्तों को भी आधार दे सकता है। वास्तव में दर्शन विज्ञान से इसी बात में भिन्न है कि विज्ञान संकुचित प्रयोजन से, संकुचित विषय का ही चुनाव करता है, जबकि दर्शन पूर्ण को, जो उसको, स्वयं को भी सम्मिलित करता है, अपना अन्वेष्य बनाता है, जिसके लिए उसके पास विचार का उपकरण कभी पर्याप्त हो ही नहीं सकता।

पर तब भी, यह अनवगाह्य मनुष्य ऐसा विषय है, जो और सब विषयों की तुलना में हमारे समीपतर है; बल्कि कहें, हमारे से इसकी दूरी केवल जानने की अपेक्षा से आरोपित दूरी ही है, अन्यथा वह हमसे अभिन्न है।

किन्तु यह भी एक विचित्र तथ्य है, अत्यधिक रहस्यपूर्ण, कि जबकि मनुष्य, अथवा कहें मानव-चैतन्य, अपने को सबसे अधिक समीपता से और प्रमाणिकता से जान सकता है, वह सबसे कम अपने को ही जानता है; उसे सबसे अधिक अनुपलब्ध यदि कुछ रहता है, तो वह उसका स्वरूप ही है। ऐसा चेतना के इस स्वभाव के कारण है कि वह सहज रूप में विषय की ओर ही उन्मुख रहती है। इसी से अधिकांश दार्शनिक ज्ञान को अनिवार्यतः विषय-मूलक ही मानते हैं, और कुछ ऐसे दार्शनिक भी हैं जो चेतना का ही स्वभाव विषयोन्मुखता को मानते हैं, अर्थात् उनके अनुसार चेतना ज्ञानात्मक वृत्ति में ही नहीं, सभी वृत्तियों में विषयोन्मुख रहती है। चेतना को स्वभावतः विषयोन्मुख मानने वाले दार्शनिक माइनोंग, हुस्सर्ल और उनके अनुयायी हैं। किन्तु इनके विपरीत कुछ भारतीय दर्शन सम्प्रदाय हैं—अद्वैतवेदान्ती, सांख्य, बौद्ध और प्रत्यभिज्ञावादी, जो चैतन्य का स्वरूपतः आत्मविश्रान्त मानते हैं और विषयोन्मुखता को चैतन्य का आत्मप्रवास—आत्मवैमुख्य—मानते हैं, यद्यपि ये दार्शनिक भी चैतन्य को इस उपलब्ध रूप में तो विषयोन्मुख ही मानते हैं। इनके अनुसार चैतन्य की यह विषयोन्मुखता ही इसके जगत् से सम्पर्क की आधार होती है। इन दो प्रकार के दार्शनिकों के अतिरिक्त अन्य दार्शनिकों ने वास्तव में चैतन्य के स्वरूप पर, अथवा कहें चैतन्य और जगत् के सम्बन्ध पर, इस प्रकार विचार ही नहीं किया। किन्तु मनुष्य और जगत् के सम्बन्ध पर विचार तो वास्तव में दर्शन के लिए मौलिक समस्या के रूप में प्रस्तुत होना चाहिए, क्योंकि इस मूल प्रश्न को ध्यान में रखे बिना ज्ञानमीमांसा एवं नीतिमीमांसा विषयक प्रश्नों पर विचार कभी मूलग्राही नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, प्रत्यक्ष-ज्ञान के प्रश्न पर विचार तब तक कैसे मूलग्राही हो सकता है, जब तक यह मनुष्य और जगत् के सम्बन्ध के समग्र प्रश्न के एक अंग के रूप में नहीं देखा जाता?

तब, इस सम्बन्ध का स्वरूप क्या है?

वास्तव में यह सम्बन्ध हमें एक बार सहज स्पष्ट प्रतीत होता है— मेरे आगे-पीछे वस्तुओं को धारण करता हुआ और उनसे आगे अनन्त में लीन होता हुआ देश का विस्तार, और इसी प्रकार अतीत में मेरी स्मृति के विषयों को और अनागत में मेरी आशा और अपेक्षा के विषयों को धारण करते हुए अनादि अनन्त में विलीन होता हुआ काल का विस्तार, यह जगत् है; और देश के विस्तार में बिन्दु-रूप केन्द्र

पर, और काल के विस्तार में रेखारूप केन्द्र पर अवस्थित मैं मनुष्य हूँ। दैशिक विस्तार से मेरे सम्बन्ध की माध्यम मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हैं और कालिक विस्तार से मेरे सम्बन्ध का माध्यम अन्तःकरण है, और परिणामतः जगत् से सम्बन्ध की दृष्टि से मैं : मनुष्य : इन्द्रिय और अन्तःकरणमूलक चेतना हूँ।

वास्तव में यह चित्र इतना सहज है कि साधारण रूप से हम इसके आगे सोचने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं करते। किन्तु यह चित्र मनुष्य और जगत् के स्वरूप और सम्बन्ध की गहराई को बहुत ऊपरी रूप से ही अंकित करता है। वास्तव में जगत् की सत्ता इन दो आयामों में ही नहीं है, इसकी सत्ता के और भी बहुत से आयाम हैं। इसी प्रकार जगत् से मेरा सम्बन्ध केवल विषयि-विषयरूप ही नहीं है, यह सम्बन्ध बहुत गहरा और बहुत विभिन्न प्रकारों का है। उदाहरण के लिए देशगत विषयों को ही लें। इनमें पत्थर, फूल, बर्तन, पुस्तक, गाय, और मनुष्य हैं, किन्तु ये छः विषय एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं; कह सकते हैं कि ये एक-दूसरे से मौलिक रूप से भिन्न प्रकार के हैं। पत्थर में जबकि इन्द्रियगम्य विषयता की पराकाष्ठा है, फूल में रूप और गठन उसमें एक अन्तर्गत प्राणतत्त्व के प्रस्फुटन हैं। पत्थर के समान वह इन्द्रियगम्य विषयता का उदाहरण मात्र नहीं है, बल्कि स्वगत आकार : प्रत्यय (फॉर्म): की अभिव्यक्ति का विशिष्ट प्रयत्न भी है। इसी से कुछ ही फूल पूर्ण स्वस्थ रूप में खिलते हैं, शेष खिलने के अनेक प्रकार के अधूरेपन को प्रकट करते हैं। इन दोनों के विपरीत, बर्तन मानवीय प्रयोजन-प्रत्यय का आश्रय है, जो प्रयोजन-प्रत्यय स्वयं इन्द्रियगम्य विषय नहीं है। गाय एक विकसित प्राणी और उपयोग-प्रत्यय का आश्रय दोनों है। प्राणी होने से वह विकसित विषयी है। पुस्तक का भौतिक पक्ष उतना भी प्रासंगिक नहीं होता, जितना मनुष्य का होता है। उसके कागज़ का रूप और आकार तथा अक्षरों का विशिष्ट रूप और आकार पुस्तकत्व के आश्रय भी नहीं होते, अक्षर ध्वनियों के संकेत, ध्वनियाँ शब्दों की अवयव, और शब्द वाक्यों के अवयव होते हैं, और वाक्य अनुक्रमशः उस संपूर्ण वाक्य-योजना के अवयव होते हैं, जो विषय विशेष : प्रत्यय-संस्थान : की व्यंजक होती है। यह पुस्तक पूर्णतः विषय ही होती है, किन्तु भौतिक विषय नहीं होकर बुद्धि-विषय होती है। इन विषयों में सबसे पृथक् मनुष्य है, जिसमें इन्द्रियगम्य पक्ष हमारे समकक्ष विषयी के लिए संकेतमात्र होता है। वास्तव में अन्य मनुष्य एकमात्र ऐसा विषय है, जो वस्तुता और प्रतीति दोनों प्रकार से विषयी है; उचित रूप से कहें तो, जो प्रस्तुत (विषय) रूप में विषयिता की पराकाष्ठा है। इस प्रकार यह देश-कालगत जगत् भी साधारण अर्थ में जगत् नहीं है, जैसा सामान्यतः हम समझते हैं। देशकालमूलक हमारा यह जगत् मुख्य रूप से, बल्कि कहें प्रायः

सर्वांशतः, ऐसे ही विषयों से संरचित है, जो इन्द्रियार्थक नहीं होकर, या तो प्रत्ययार्थक हैं, अथवा इन्द्रियार्थ और प्रत्ययार्थ दोनों की अधीनता में नहीं हैं। वास्तव में पत्थर, मिट्टी आदि इन्द्रियार्थ : इन्द्रिय-विषय : भी इन्द्रियों के अव्यवहित अर्थ नहीं होकर नाम : भाषा : से व्यवहित होते हैं, और इस प्रकार प्रत्ययमूलक हो जाते हैं। वास्तव में इस प्रत्ययमूलकता के कारण ही ये घटत्व और मूर्ति आदि प्रत्ययों के देहावतरण के लिए उपादान बनते हैं। अथवा कहें, अब वे स्वरूप-विश्रान्त बाह्य इन्द्रिय-विषय नहीं रहकर उपादान-प्रत्यय में रूपान्तरित हो जाते हैं।

किन्तु हमारे जगत् का विस्तार केवल यहीं तक नहीं है; इसके इन अर्थों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण घटक भाषा, विज्ञान, कला, दर्शन आदि हैं। ये सब ऐसे विषय हैं, जो मानव-जगत् के अधिकांश विस्तार को व्याप्त करते हैं, साथ ही हमारी विषय-सत्ता और विषयि-सत्ता का निर्धारण करते हैं। इनके बाद जगत् का व्यापकतम और अत्यधिक जटिल घटक समाज है, जो अपनी असंख्य संस्थाओं और उनके नियमों तथा विधि-निषेधों के द्वारा हमारी कल्पना को आच्छादित किये रहता है। इस प्रकार, यदि हम जगत् को देशात्मक लोक के रूप में ही नहीं देखकर अनेक लोकों की स्तर-रचना के रूप में देखें, तो हमें मनुष्य और जगत् का सम्बन्ध उससे बिलकुल भिन्न रूप में प्रकट होगा, जैसा हमें जगत् को केवल देशात्मक लोक के रूप में देखने पर होता है; और मुझे इसका कोई औचित्य दिखाई नहीं देता कि, क्यों जगत् को केवल देश और काल के विस्तार में विजडित उदासीन : बाह्य-विश्रान्त : विषयों के रूप में ही देखा जाय।

वास्तव में जगत् को इस संकुचित अर्थ में देखने के पीछे, जगत्-तत्त्व विषयक और मानव के उससे सम्बन्ध विषयक, एक पूर्वगृहीत धारणा है; जिसका स्पष्टीकरण करके ही इस दृष्टिकोण की भ्रान्तता को और इसका विस्तार करने के हमारे प्रस्ताव के औचित्य को समझा जा सकता है। यह भ्रान्त धारणा यह है कि जगत् प्रस्तुति है, और प्रस्तुति का अर्थ है चेतना का प्रतिरोधक भौतिक तत्त्व। यह धारणा क्योंकि पूर्वगृहीत है, इसीलिए सांख्य और वेदान्त जैसे दर्शन-सम्प्रदाय भी जगत् को इस प्रकार की प्रस्तुति के रूप में ही देखते हैं, जबकि उनके लिए इस रूप में इसे देखना तर्क-संगत नहीं है। उदाहरण के लिए सांख्य ने तीन प्रकार के प्रमाण : प्रमाकरण : माने हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन। इन में अनुमान प्रत्यक्षमूलक होता ही है, जहाँ तक आप्त वचन का सम्बन्ध है, वह एक अन्य स्तरीय प्रत्यक्ष ही है, जिसके विषय स्वयं इन्द्रियाँ और महत् आदि हैं, जो ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के लिए गम्य हैं; किन्तु मेरा निवेदन है कि मानव-व्यक्ति, और उसके आगे 'पिता' 'पुत्र' आदि तो बहुत दूर की बातें हैं; घट,

गृह आदि भी इन्द्रिय-गम्य विषयमात्र नहीं हैं, क्योंकि घट मिट्टी नहीं है, बल्कि प्रत्यय है, जो मिट्टी, कांस्य या स्वर्ण किसी में भी देह धारण कर लेता है।

घट उस सीमा तक ही देशात्मक लोक का सदस्य है, जिस सीमा तक यह भौतिक सत्यापन के नियमों के अधीन है, किन्तु उसमें यह मेज़ दीवार और पत्थर से अभिन्न है; घट यह कर्त्तृमूलक प्रत्ययविशेष के सन्निवेश के कारण है। यह बात 'पुत्र' से और स्पष्ट हो जाती है। 'पुत्र' सम्बन्ध विशेष से लक्षित मानव-व्यक्ति है। किन्तु यह सम्बन्ध देश या कालमूलक नहीं होकर समाजमूलक है। तब समाज क्या है ? यहाँ इस प्रश्न पर विचार सम्भव नहीं है, किन्तु इतना स्पष्टीकरण आवश्यक है कि यह व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध-जनित (समूह) नहीं है, जैसा कि सामान्यतः समझा जाता है; यह व्यक्ति-सम्बन्धों को धारण करने वाला "आलयविज्ञान" है।[1] इस प्रकार 'पुत्र' शब्द दो व्यक्तियों के बीच बाह्य सम्बन्ध का वाचक नहीं होकर उस आलय-विज्ञान की वृत्ति का वाचक है, जो दो व्यक्तियों को सम्बन्धित करती है। जो भी हो, यहाँ महत्त्वपूर्ण यह है कि 'पुत्र' इन्द्रियग्राह्य सम्बन्ध या प्रत्यय नहीं है, और न यह अवस्तु ही है। यह मिट्टी और घट-मूलक लोकों से भिन्न एक तीसरे लोक की वस्तु है।

अब इस विविध लोकात्मक जगत् से मनुष्य का क्या सम्बन्ध है ? किन्तु 'क्या सम्बन्ध है' इस पर विचार करने से पहले यह विचार करना उपयुक्त होगा कि यह सम्बन्ध है ही क्यों, अथवा क्या यह कोई सम्बन्ध है भी ? यह अन्तिम प्रश्न उपहासास्पद प्रतीत हो सकता है; किन्तु थोड़ा गहराई से देखने पर यह वैसा प्रतीत नहीं होगा। उदाहरण के लिए, डेकार्ट के दर्शन में 'मनस्' का भूत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, लाइब्नीज़ के दर्शन में 'व्यष्टियों' का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, और उस दर्शन में जगत् वास्तव में एक व्यष्टि समुदाय ही है। पाश्चात्य संस्कृति में साधारण रूप से जगत् को मनुष्य के लिए प्रतिरोधक और शत्रुरूप में देखा गया है, इसीलिए 'मनुष्य की प्रकृति पर विजय' तथा 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' ये उस संस्कृति में मूल्य हैं। भारत में मनुष्य और जगत् के सम्बन्ध को लेकर दो धाराएँ रही हैं—एक विरोधमूलक और दूसरी सामरस्यमूलक। बौद्ध और जैन दर्शनों में यह सम्बन्ध विरोधात्मक देखा गया है, जबकि वेद में और उपनिषद् में सामरस्यात्मक। ऐतरेयोपनिषद् में जगत्

---

१. इस पर हमारे विचार के लिए द्रष्टव्य—**संस्कृति** पुस्तक में 'संस्कृति का **अधिष्ठान**' अध्याय, प्रकाशक राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९६९।

के आविर्भाव का जो वर्णन है, उसके अनुसार एक ही तत्त्व आदित्य में और चक्षु में, अग्नि में और वाक् में, आकाश में और श्रोत्र में है, और यह सब तत्त्व-वैविध्य जिस आनन्द की अभिव्यक्ति का प्रतिफल है, वह आनन्द समान रूप से आत्म और परमात्म तत्त्व है। किन्तु जैन और बौद्ध दर्शनों में विरोध का स्वरूप पाश्चात्य विचार से बहुत भिन्न है। इनमें वास्तव में 'जगत्' व्यक्ति के अपने से बाहर अवरोधक वस्तु-विस्तार और घातक व्यक्ति-समवाय[1] नहीं होकर उसका अपना ही अहङ्कार है, जिसके कारण यह वस्तु विस्तार और व्यक्तिसमवाय बाधक-साधक और मित्र-शत्रु रूप में विभक्त है। सो, इनके अनुसार यह अहंकार ही जगत् है, जो अवांछनीय और निवारणीय है; इसके निवारण के अनन्तर जगत् में कुछ बाधक-साधक नहीं है। बौद्धों में 'संघं शरणम्' और 'करुणा' की अवधारणाएँ मनुष्य और जगत् के बीच मूल मैत्रीभाव की द्योतक हैं। यहाँ इन विभिन्न मतों, अथवा कहें अभिवृत्तियों, के उल्लेख का प्रयोजन यह दिखाना है कि मनुष्य और जगत् का सम्बन्ध कोई स्वतःसिद्ध तथ्य नहीं है, और न मनुष्य और जगत् का स्वरूप ही कोई स्वतःसिद्ध तथ्य है। इनके स्वरूप और सम्बन्ध को समझने के लिए साधारण चित्र के उपर्युक्त संशोधित रूप के आधार पर आगे बढ़ना उपयुक्त होगा। इस संशोधित चित्र के जगत् को हम अनेक स्तरीय संभावनात्मक विद्यमानता कह सकते हैं। तब मनुष्य क्या है? जिस चित्र से हमने आरम्भ किया था और जिस पर संशोधन के उपरान्त हम पहुँचे, उसमें इस सम्बन्ध के दूसरे पद 'मनुष्य' के स्थान पर हमने द्रष्टा, कर्त्ता और भोक्ता के रूप में 'अपने' को रखा और अन्य व्यक्ति जगत् के अवयव के रूप में रखे गए। यदि चित्र-रचना के इस दृष्टि-बिन्दु को स्वीकार किया जाय तो दो प्रकार के परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत होते हैं— एक परिप्रेक्ष्य में विषयी रूप में मैं, और केवल मैं, इस सम्बन्ध का एक अस्थानान्तरणीय पद है, दूसरा पद विषय-समग्र के रूप में जगत् है। किन्तु एक दूसरा परिप्रेक्ष्य भी हो सकता है, जिसमें 'मैं' पद अविशिष्ट रूप से विषयी मात्र का वाचक हो सकता है। इन दो परिप्रेक्ष्यो में दो महत्वपूर्ण अन्तर हैं। एक यह कि यदि 'मैं' एक अस्थानान्तरणीय विषय है, तो 'मनुष्य और जगत्' केवल एक वास्तव अस्तित्वात्मक सम्बन्ध ही हो सकता है, जो मेरे अस्तित्व की समाप्ति के साथ समाप्त हो जाता है, जबकि दूसरे

---

१. सार्त्र में बींग फार इट्सेल्फ और बींग इन इट्सेल्फ का सम्बन्ध और विज्ञान की प्रकृति पर विजय-रूप अवधारणा यूरोपीय संस्कृति के फाउस्ट प्रतीक के दो पक्षों के ही द्योतक हैं। डारविन की 'चयनों' की अवधारणा भी जीव (व्यष्टि जीव) और जगत् के बीच संघर्षमूलक सम्बन्ध की अवधारणा पर ही प्रतिष्ठित है।

परिप्रेक्ष्य में 'मैं' केवल एक पूर्वापेक्षा (प्री-कंडीशन) का वाचक है, जिसका वास्तव अस्तित्व दूसरे पद (जगत्) के अस्तित्व के लिए अनिवार्य नहीं है, यद्यपि उस अस्तित्व की जगद्रूपता के लिए यह अनिवार्य है; अर्थात् उस अस्तित्व (निरपेक्ष तत्) का जगत्-रूप में आविर्भाव किसी विषयी की अपेक्षा से ही हो सकता है। दूसरे शब्दों में, विषय के रूप में जगत् किसी विषयी का अपेक्षी है और परिणामतः वास्तव विषयी के बिना उसका यह रूप संभव नहीं हो सकता, किन्तु अविषय रूप में वह विषयी के अभाव में भी रह सकता है। दूसरा अन्तर यह है कि इस चित्र में 'विषयी' भी एक सापेक्ष पद है, और यह सापेक्षता दो प्रकार की है, एक यह कि मैं केवल जगत् की सापेक्षता में ही विषयी हूँ, विषयभाव मेरा कोई अनिवार्य धर्म नहीं है, और दूसरे यह कि मैं विषयी रहते हुए भी अपना ही विषय भी हो सकता हूँ।

किन्तु यदि प्रथम परिप्रेक्ष्य को, जिसमें 'मैं' अस्थानान्तरणीय विषयी है, स्वीकार किया जाय तो 'मनुष्य' पद का कोई अर्थ नहीं रह जाता, तब 'मैं' पद एक विलक्षण विषयी का वाचक रह जाता है, जबकि मनुष्य विषय-विषयि-भाव की एक जटिल संरचना है; और यह सही चित्र भी नहीं है, जैसाकि कुछ सीमा तक 'जगत्' के ऊपर निरूपित स्वरूप से भी, जिसके अनुसार जगत् विषयतामात्र नहीं होकर विषयता के न्यूनाधिक्य से अनेक-स्तरीय विद्यमानता है, उपपन्न होता है। दूसरा परिप्रेक्ष्य भी इस सम्बन्ध की व्यापकता और गहराई का आकलन करने में एकदम अपर्याप्त है; किन्तु यह परिप्रेक्ष्य युक्त-चित्र के एक अवयव के रूप में युक्त हो सकता है। युक्त-चित्र से हमारा अभिप्राय एक पूर्णतः निर्विशिष्ट सार्वभौम चित्र से है। उपर्युक्त दूसरा परिप्रेक्ष्य भी एकदेशीय होने से इस युक्त परिप्रेक्ष्य से मूलतः भिन्न है, किन्तु तब भी इसकी एकदेशीयता (प्रतिव्यक्तिमूलकता) अविशिष्ट, सामान्य, होने के कारण युक्त-चित्र की सार्वदेशिकता की ओर उन्मुख है, बल्कि कहें, उसका अनिवार्य अपेक्षी भी है।

वास्तव में मानव-चैतन्य में एकदेशीयता (अहंकार) एक ऐसी अवांछनीय उपाधि है, जो उसका पाशव उत्तराधिकार है, और जिसका अतिक्रमण उसमें एक सीमा तक सहज है, और शेष प्रयत्नसाध्य है। मानव-चैतन्य के स्वरूप की इस प्रकारता के कारण ही जगत् से उसका सम्बन्ध अनेक आयामात्मक और अत्यन्त जटिल है। इनके इस सम्बन्ध का मूलभूत लक्षण जगत् की विषयपक्ष में और मनुष्य की विषयीपक्ष में अतिक्रान्तता है, किन्तु इनमें कोई पक्ष दूसरे को पूर्णतः निश्शेष नहीं करता। रूप, आकार, आकर्षकता-विकर्षकता आदि से समन्वित सद्यःप्रदत्त विषय पूर्णतः अहंकारोपहित विषयी का विषय है, और इस वस्तुस्थिति में विषयी और विषय दोनों ग्राह्य-

ग्राहक भाव के रूप में परस्पर में पूर्णतः निश्शेष रहते हैं, किन्तु 'यह घट है' इसमें 'यह' अंश ऐन्द्रिक अहंकार का, 'घट' अंश बौद्धिक अहंकार का, और 'है' अंश कालिक अहंकार का अतिक्रमण करता हुआ प्रस्तुत होता है, और इस अतिक्रमण के द्वारा यह उस सीमा तक अहंकार को भी विस्तार देता है। 'यह घट है' द्वारा अभिहित विषय मेरे ग्रहण का विशेषाधिकार नहीं है; इतना ही नहीं, इसके लिए यह भी आगन्तुक है कि यह किसी का विषय हो ही, यद्यपि उपयुक्त परिस्थितियों में विशेष प्रकार से ग्राह्य होना इसकी अनिवार्य अपेक्षा है; और यह मनुष्य के विषय-ग्रहण की विशेषता है कि उसके समक्ष विषय इस अतिक्रामी रूप में प्रस्तुत होता है, और इस प्रकार मनुष्य में अहंकार के अतिक्रमण की सूचना देता है।

किन्तु जैसाकि हमने पीछे देखा है, जगत् केवल घट-पट रूप विषयों का ही समवाय नहीं है. इसके समवायी कारणों में सर्वथा अनिन्द्रिय-ग्राह्य विषयों की भी विद्यमानता है। इनमें दो-एक ऐसे विषयों का विवेचन विषयी मनुष्य के स्वरूप को समझने में उपयोगी होगा। एक ऐसा विषय हो सकता है : 'यह कार्य मनुष्योचित नहीं है।' जैसाकि हम जानते हैं, इस प्रकार के तथ्यों को प्राय: किसी दार्शनिक ने तथ्य या विषय स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि उनके सामने निदर्श इन्द्रिय-ग्राह्यता का ही रहा है। किन्तु जैसा कि हमने अन्यत्र भी देखा है,[1] यह निदर्श नितान्त भ्रामक है। यहाँ हम इस पर विशेष रूप से विचार करेंगे। निश्चय ही इस विषय का एक अश इन्द्रियग्राह्य है। यह अश है, मानव-देह के किसी अंग का चलन। इस चलन के 'कर्म' के रूप में ग्राह्य होने के लिए इसका 'चालन' के रूप में, देह का मानवीय चेतना के देहावतरण के रूप में, और चेतना का विवेक और संकल्प-समर्थ द्रष्टा और कर्त्ता के रूप में ग्रहण आवश्यक है। स्वभावतः यहाँ यह कहा जायगा कि यह सब विकल्प मूलक और परिणामतः उपचार (आरोप) है। किन्तु ऐसा केवल इस वस्तुस्थिति की, इसके ग्रहण या अवगमन की संरचना को पूर्वाग्रह-मुक्त दृष्टि से नहीं देखने के कारण ही कहा जाता है। उदाहरण के लिए, यदि इस मूल्यांकित कर्म का कर्त्ता मैं हूँ, तब इसका इन्द्रियगम्य पक्ष सपूर्ण व्यापार की प्रथम कड़ी नहीं रहकर अन्तिम कड़ी हो जाता है, और मूल्यांकन वास्तव में इस कड़ी का नहीं, बल्कि उस भाव, धारणा, या सकल्प का हो रहा होता है, जो इस अंग-चलन में पर्यवसित हुआ है। वास्तव में इसमें अग-चलन घटना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं होकर मेरे संकल्प और विवेक के अधिष्ठातृत्व की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है : "भाव की क्रिया में निष्पत्ति होने तक के क्रम में अवरोध

१. द्रष्टव्य आगे, "दर्शन का आरम्भ बिन्दु" अध्याय।

के कई अवसर थे, और मैं इन सब अवसरों पर अवरोध करने में समर्थ था, किन्तु मैंने इस सामर्थ्य का उपयोग नहीं किया।" इस प्रकार यह तथ्य है, जिस तथ्य का विस्तार मेरे अतिक्रामी स्वरूप (प्रस्तुत प्रसंग में भाव की क्रिया में निष्पत्ति होने को रोकने की सामर्थ्य) से लेकर इस स्वरूप (सामर्थ्य) की असफलता तक है। इसी से यदि मैं चोरी करने जाता हूँ, किन्तु आगे सिपाही को देखकर लौट आता हूँ, तब कर्म के अवरुद्ध हो जाने पर भी मेरे मूल्यांकन में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। और यह मूल्यांकनात्मक ग्रहण-पश्चात्ताप-अव्यवहित बोध है और इस प्रकार अमूर्त प्रत्यय नहीं होकर विशिष्ट अनुभव और अनुभूत विषय है। यहाँ कुछ दार्शनिक कहेंगे कि यह भी सहज नहीं है. इनमें केवल कार्य-प्रवृत्ति का संवेदन सहजगम्य है, मूल्यात्मक ग्रहण सहज नहीं है, यह संस्कारमूलक है, क्योंकि यदि बच्चा अन्य की वस्तु उठा लेता है तो वह अपने इस कर्म और उसकी प्रवृत्ति को अमनुष्योचित रूप में मूल्यांकित नहीं करेगा। किन्तु यह तर्क सही नहीं है, क्योंकि बच्चे में अन्यत्व, स्वामित्व आदि के बोध ही नहीं है। अवश्य ये बोध संस्कार जन्य हैं, किन्तु यह संस्कार चेतना की उस सामर्थ्य या स्वरूप में मूलित हैं जो अन्यत्व, स्वामित्व आदि सम्बन्धों को जन्म देती है। बच्चा आत्म और पर का भेद ग्रहण नहीं करता, क्योंकि उसमें चेतना की इस ग्रहण के लिए अपेक्षित सामर्थ्य सिद्ध नहीं हुई रहती। दूसरे शब्दों में, 'मेरा यह कर्म अमनुष्योचित है' प्रतिज्ञप्ति में व्यक्त अनुभव की संरचना की जटिलता इसे काल्पनिक आरोप नहीं बना देती, क्योंकि यह अनुभव है; यह जटिलता केवल चेतना की जटिल अनुभव में स्फुटित होने की योग्यता को सूचित करती है। यहाँ यह आपत्ति भी उचित नहीं होगी कि ऐसा अनुभव सबको नहीं होता, क्योंकि इस आपत्ति के आधार में यह धारणा है कि यह अनुभव वस्तु-विषयक नहीं है, जिस प्रकार 'यह घट है' अनुभव वस्तु-विषयक है। किन्तु यह धारणा युक्तियुक्त नहीं है। जैसाकि हमने ऊपर देखा, 'यह घट है' भी उस अर्थ में वस्तु-विषयक नहीं है जिस अर्थ में इस आपत्ति में यह 'वस्तु-विषयकता' कल्पित है, किन्तु यह एक अन्य अर्थ में निश्चय ही वस्तु-विषयक ही है, और उस अर्थ में कार्य का मूल्यांकन और भी अधिक ठोस रूप से वस्तु-विषयक है। जैसाकि हमने पीछे कहा, घट प्रयोजन-प्रत्यय-मूलक वस्तु है, जिसका अर्थ है कि इसका इन्द्रिगम्य आकार 'पिंड' प्रयोजन-प्रत्यय के साक्षात्कार का माध्यम मात्र है, स्वयं वह प्रत्यय नहीं है। इस प्रत्यय का साक्षात्कार मैं इस पिंड से पानी लाने या पानी निकालने के अवसरों पर, अथवा इन क्रियाओं की सामर्थ्य के अधिष्ठान के रूप में इसका ग्रहण करते हुये, करता हूँ। यहाँ आपत्ति होगी कि मैं घटत्व-जाति को घट-व्यक्ति से व्यामिश्रित कर रहा हूँ और जाति को वस्तुत्व दे रहा हूँ। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इस प्रत्यय के सन्निवेश के बिना घट-व्यक्ति और घटत्व जाति दोनों का कहीं अस्तित्व नहीं

—२—

होता, क्योंकि इसके बिना दो घट एक ही मिट्टी होते हैं, पिंड-भेद इन्हें व्यक्ति (व्यष्टि) नहीं बना सकता, इनकी तथाकथित वस्तुता नितान्त सामान्यात्मक होती है—'नितान्त सामान्यात्मक' से मेरा अभिप्राय है, जिसमें व्यष्टि भेद घटित भी नहीं हो सकता, अर्थात् घट-अनेकत्व जिसमें अकल्पनीय है। किन्तु प्रत्यय सन्निविष्ट वस्तु, अथवा कहें देहावतरित प्रत्यय 'घट' अस्तित्व में मूलतः व्यष्टि है, क्योंकि उसकी परिधि उसके अस्तित्व की अनिवार्य सीमा है। किन्तु तब इसकी वस्तुता इसका पिंड मात्र नहीं होकर इसके निमित्त-भूत प्रत्यय तक विस्तृत है, जिसके बिना यह मात्र मिट्टी है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि प्रत्यय के लिये घट-विशेष आनुषंगिक है और इस प्रकार मुख्य वस्तुतः प्रत्यय की हो जाती है। यह सही है, किन्तु वास्तव में यह इस प्रत्यय का ही धर्म है कि वह मिट्टी के माध्यम से उसे उपादान बनाकर, विशेषात्मक अस्तित्व ग्रहण करता है। इस प्रकार घट प्रत्यय के लिये मिट्टी में अवतरण और विशेषात्मकता अनिवार्य है, यद्यपि घट-विशेष उसके लिये आगन्तुक है। किन्तु मूल्यात्मक कर्म ही वस्तुता इसके भिन्न प्रकार की है। इसका निमित्त भोक्तृ-प्रत्यय और उपादान मनोवृत्ति होती है, जिनका 'मनोवृत्ति का' विस्तार अंग-क्रिया तक होता है। इस प्रकार अंग इसके लिये उपकरण नहीं होकर कर्मेन्द्रिय के रूप में मनोवृत्ति के ही अन्तर्गत होता है। मूल्यात्मकता भोक्तृ-प्रत्यय का अन्तर्गत धर्म है। यहाँ का स्पष्टीकरण आवश्यक है कि भोक्तृत्व और भोक्तृ-प्रत्यय एक ही बात नहीं है। भोक्तृत्व मनोवृत्तिमूलक होता है जबकि भोक्तृ-प्रत्यय भोक्तृत्व की आत्मोन्मुखता 'पुरुषोपलेखिताः मूलक होता है। इस प्रत्यय 'आत्मोल्लेखन' के बिना कोई क्रिया या मनोवृत्ति कर्म नहीं बनती, केवल क्रिया रहती है। कुत्ता कभी चोरी नहीं करता, उस अवस्था में मै भी नहीं करता यदि हैं आत्म-पर का भेद नहीं करता। यहाँ द्रष्टव्य है कि भोक्तृ-प्रत्यय और उपयोग-प्रत्यय में उपादान-भेद का कारण इनमें उन्मुखता-भेद ही है, अन्यता भोक्तृ-प्रत्यय का उपादान भी मनोवृत्ति नहीं होता। इन दोनों प्रत्ययों में कर्तृकता सामान्य धर्म है, यही धर्म कला-कर्म में भी है, किन्तु उपयोग-प्रत्यय जबकि उपादानोन्मुख है, भोक्तृ-प्रत्यय पुरुषोन्मुख है, इन दोनों से भिन्न कला-कर्म कलात्मक प्रत्यय' स्वोन्मुख रहता है। इसी से इसमें उपादान रंग (चित्र में) (संगीत में) और अंग चालन (नृत्य में) आदि होने पर भी ये इसके सम्पूर्ण उपादान नहीं है, यह उपादान मनः पर्यन्त (अनुभूति पर्यन्त) होते हैं, और प्रत्यय अपने अर्थ का उल्लेखी होता है। वास्तव में इसी कारण 'घट' को वस्तु और कमाकृति तथा पश्चात्ताप को वस्तुपरक 'विषयिमूलक' मान लिया जाता है। किन्तु यह उचित नहीं है। विषयिमूलक का क्षेत्र इनसे भिन्न है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

पश्चात्ताप को वस्तुपरक मानने के विरुद्ध आपत्ति यह है कि इसका विषय, यदि उसे उचित रूप में विषय कहा जा सकता है तो, सब के लिये समान रूप से गम्य नहीं है, जैसे घट है। वस्तुत्व के न्यूनतम दो अनिवार्य लक्ष्य कहे जा सकते हैं, सर्वगम्यता और विषयि-निरपेक्षता। तक पहला लक्षण दूसरे का अंश है वहीं तक वह वस्तुत्व ये लिये प्रासंगिक भी है। यह लक्षण, वास्तव में पहला लक्षण भी पश्चात्ताप-विषय में नहीं है, इसलिये इसे 'पश्चात्ताप को' भाव-सत् तो कह सकते हैं, किन्तु वस्तु-सत् नहीं कह सकते। किन्तु यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 'निरपेक्षता' का क्या अर्थ है।

जैसा कि हमने पीछे देखा, जगत् के सन्दर्भ में निरपेक्षता का सामान्यतः गृहीत अर्थ देश में, अथवा दैशिक रूप में, द्रष्टा से स्वतन्त्र विद्यमानता है, प्रस्तुत आपत्ति (विषयिनिष्ठता की) के मूल में भी यही धारणा है। किन्तु इस पर विचार के प्रसग हमने देखा कि देशावस्थिति तो घट का भी केवल गौणतः ही है, मुख्यतः यह अवस्थिति को केवल महाभूतों की है। यहाँ हम पूर्वपक्ष से यह प्रश्न करना चाहेंगे कि द्रष्टा की सत्ता कहाँ है? देश में या अ-देश में? पूर्व पक्ष इसका उत्तर दे सकता है कि देश में दैनिक वस्तु और उसका द्रष्टा दोनों 'में' और 'पर' के रूप में देश के ही दो बिन्दुओं स्थित होते हैं। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि स्वप्न-विषय और कल्पना-विषय भी देश में ही होते हैं और उसी प्रकार उनका द्रष्टा भी, किन्तु यहाँ देश का स्वरूप बहुत भिन्न प्रकार का होता है, यह देश क्रियात्मक प्रकार का होता है और इसका मूल द्रष्टा में होता है। इसके विपरीत जागृति में प्रत्यक्षगत विषयों का देश मुख्यतः अवस्थानात्मक प्रकार का होता है। और जिस सीमा तक यह अवस्थानात्मक प्रकार का होता है उसी सीमा तक इसका केन्द्र विषय (निरपेक्ष देशावस्थित वस्तु) होता है। किन्तु जागृति में भी देश का यह प्रकार शुद्ध नहीं होता, यह केवल संस्कार-साध्य देश है, सहज में प्रत्यक्ष-विषय भी 'स्वप्नानुरूप' क्रियात्मक देश में ही होता है। इनके विपरीत चित्र का देश पूर्णतः अवस्थानात्मक प्रकार का होता है। क्रियात्मक देश द्रष्टा-दृश्य के बीच अभियोजनात्मक (Manifulational) तनावों से उपलक्षित होता है जबकि अवस्थानात्मक देश निवृत्त द्रष्टा का परिप्रेक्ष्य है जो प्रत्यक्ष से विपरीत अध्यवसाय में सिद्ध होता है। परिणामतः हमारे सभी प्रत्यक्षमूलक अध्यवसायों में देश क्रियात्मक और अवस्थानात्मक दोनों प्रकारों का सम्मिश्रण होता है। इस प्रकार क्रियात्मक देश में द्रष्टा अभियोजनात्मक 'नियोजित करने वाले' केन्द्र के रूप में, और अवस्थानात्मक देश में द्रष्टा विषय के परिप्रेक्ष्य पर एक दृष्टि-बिन्दु के के रूप में दृश्य के देश में ही होता है। इस प्रकार देश दैशिक प्रकार के विषयों और उनके

द्रष्टा के बीच सम्बन्ध से व्युत्पन्न स्थिति विशेष है।[1] इसका अर्थ यह है नहीं है कि हम विषयों को विषयि सापेक्ष सिद्ध कर रहे हैं' बल्कि यह है कि हम विषय और विषयी के बीच उस विच्छेद को आरोपण मानते हैं जो वस्तु-सत् विषयक उपर्युक्त पूर्व पक्ष के आधार में है।

किन्तु यदि पूर्वपक्ष की धारणा के निदर्श को भी मान लें तो भी वास्तव में कठिनाई इस धारणा की ही बढ़ती है न कि हमारे मत की; क्योंकि यदि वस्तु की सत्ता के लिये दैशिक अवस्थान-रूप निरपेक्षता अनिवार्य पूर्वपेक्षा है तो दृष्टा की सत्ता का क्या होगा? वह सत् है या असत्? उसे असत् कहने का कोई अर्थ नहीं है, और यदि वह सत है तो प्रश्न होगा कि वह जागतिक सत् है या जगद् बाह्य सत्? वास्तव में इस आपत्ति में निहित धारणा यह है कि वह सत् जगत्-बाह्य है और प्रकार हमारे भावादि भी जगद् बाह्य सत् हैं, वस्तु-सत् नहीं। भाव, अनुभूति और अध्यवसाय आदि को अवस्तु विषयक विषयिनिष्ठिता या विकल्प आदि कहने का यही अर्थ हो सकता है। किन्तु यह सब बहुत घपला है, निरपेक्ष सत् विषयक सारी चर्चा बहुत बड़े अविचार पर आधारित है जिसकी ओर यहाँ हम केवल संकेत कर सकते हैं—रागवश मेरा यह कहना कि अमुक अच्छा है, विषयिनिष्ठ है और राग विषयिगत है, किन्तु अनन्तर मेरा यह निर्णय करना कि 'मैंने जो अमुक को अच्छा कहा था वह रागाधीन होकर कहा था, यद्यपि वास्तव में भी वह अच्छा ही है,' उस 'अमुक' के अच्छेपन और मेरे राग दोनों की ही वस्तुता विषयक कथन है। इसी प्रकार, दृष्टिकोण विशेष से गम्य इन्द्रिय-विषय के रूप और आकार का कथन विषयिनिष्ठ कथन है और उस दृष्टिकोण की आंशिकता को संपूर्णता समझने को भूल का ग्रहण और उस दृष्टिकोण विशेष से गम्य रूप और आकार से संकेतिक निरपेक्ष रूपाकार का ग्रहण दो वस्तु-निष्ठ ग्रहण हैं। किन्तु चित्रकार द्वारा दृष्टिकोण विशेष के ग्रहण का चित्रांकन निरपेक्ष वस्तुनिष्ठ ग्रहण है, यह विषयिभाव की द्रष्टा की, वस्तुत्व का ग्रहण है। इस प्रकार वस्तुनिष्ठता की स्थिति दो ओर उन्मुख अतिक्रमण में होती हैं 'द्रष्टामुखीन अतिक्रमण निरहंकारता में होता है और विषयमुखीन अतिक्रमण वस्तु की द्रष्ट-निरपेक्ष अवधारण में, जिसके लिये निरहंकारता अनिवार्य पूर्वारक्षा है, और इस निरहंकार द्रष्टा द्वारा उल्लेखित सभी विषय वस्तु सत् होते हैं'[2] 'अच्छा है' के रूप में मूल्यांकित

१. द्रष्टव्य ज्यणपेशल्य—**विषय और आत्म**, अध्याय २; अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, १९७२।

२. यहाँ यह संकेत करना अस्थाने नहीं होगा कि व्यष्टित्व मात्र का मूल

'अमुक व्यक्ति' भी, इसका रागात्मक मूल्यांकन भी, और अपना रागात्मक 'साहंकार' भाव भी। और इन तीन वस्तुओं में से जितना निश्चित निरहंकार द्रष्टा इस तीसरी वस्तु 'रागात्मक भाव' के सम्बन्ध में हो सकता है उतना प्रथम दो के सम्बन्ध में नहीं हो सकता है उतना प्रथम दो के सम्बन्ध में नहीं हो सकता। इस प्रकार निरपेक्ष वस्तुता का आधार वस्तव में द्रष्टा-पक्ष में अहंकार का अतिक्रमण है न कि विषय पक्ष में विषयी से निरपेक्ष दैशिकता।

किन्तु वास्तव में मनुष्य शुद्ध, 'पूर्णतः निरहंकार' द्रष्टा या भोक्ता नहीं है, वह जगद्भावापन्न चैतन्य है; दूसरे शब्दों में, वह जगत् के प्रति राग-वृत्ति के अधीन साहंकार चैतन्य है, यदि इस भाव में भी वह निरशेषतः नहीं होता है। इसी से पशु में पशुता के उतने स्तर नहीं हैं जितने प्रकार के हैं, इसके विपरीत मनुष्य में मनुष्यता के असंख्य स्तर हैं, जबकि प्रकार ही है। जो भी हो, मनुष्य का जगत् मनुष्य के जगद्-भाव और शेषभाव की संश्लिष्ट सृष्टि है। शुद्ध जगद्भाव में वह सद्यःप्रदत्त विषयता से आगे नहीं जा सकता था। यह जगद्भाव से इसके किंचित् व्यवच्छेद का ही फल है कि उसे विषय प्रदत्त रूप में नहीं बल्कि सम्भावनात्मक रूप में प्रस्तुत होते हैं। विषयों का यह सम्भावनात्मक रूप उनके ग्रहण की प्रकारता के अनुसार शास्त्रों, विज्ञानों और कलाओं को सम्भव करता है।[1] जगद्भाव से व्यवच्छेद की योग्यता मानव स्तरीय चैतन्य में सहज है, उस योग्यता से रहित जीव में चैतन्य मानव-स्तरीय स्तरीय नहीं है, किन्तु यह योग्यया प्रतिपालन के लिये भाषा के आश्रय की अपेक्षा होती है। भाषा की सत्ता अतिवैयक्तिक बुद्धि की अभिव्यक्त सत्ता है, वाक्यपदीय के शब्दों में, इसे परावाक् का विवर्त कहना अधिक उपयुक्त होगा। मनुष्य का व्यवच्छिन्न जगद्भाव प्रथमतः इस सत्ता से ही व्यवहित होता है, यद्यपि अनंतर, कर्तृ भोक्तृ बुद्धि की साधना से यह भाव इस व्यवधान का लय तथा पुरुष खोजता है, जो पाशव-चैतन्य को ठीक उलट है, जिसमें व्यवधान का आविर्भाव ही नहीं होता। यह द्रष्टव्य है कि चित्सत्ता के अतिवैयक्तिक आविर्भाव पाश्व स्तर पर भी उपलब्ध होते हैं: मधुमक्खियों का छत्ता और चींटियों की बस्तियाँ इसी प्रकार के आविर्भाव हैं, और

अहंकार में है और इस प्रकार ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और अध्यवसाय मात्र अहंकारोपहित है। इस सम्बन्ध में पीछे द्रष्टव्य 'आत्म और अनात्म।'

१. द्रष्टव्य—पीछे 'दर्शन का आरम्भ बिन्दु' और 'विषय और आत्म' पुस्तक में अ० २।

वाहर अनभिव्यक्त रूप में तो पशुओं में सहज प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) और पौधों में आकारिक (मार्फोलोजी) भी चित् की अतिवैयक्तिक सत्ताएं ही हैं।[1] किन्तु पाशव-स्तरीय से अतिवैयक्तिक सत्ताएं पशु के जगद्भाव को और दृढ़ ही करती हैं। मनुष्य में पाशव स्तरीय अतिवैयक्तिकता से मुक्ति वैयक्तिक वैशिष्ट्य के रूप में प्रकट होती है। किन्तु वैयक्तिक वेशिष्ट्य का अर्थ वासना, उद्वेग आदि में व्यक्ति-भेद नहीं है, जैसा कि अस्तित्वादियों, विशेषत: सार्त्र, ने समझा है; उस प्रकार का भेद पशुओं और पौधों में भी मिलता है। इंस्टिंक्ट और आकारिकी इस प्रकार के भेद को समाप्त नहीं करतीं, इन्हें परिभाषित करती हैं : कोई दो कुत्ते एक जैसे नहीं भौंकते और न दो गुलाबों की पत्तियाँ एक-समान होती हैं। किन्तु इनमें ये असमानतायें या वैशष्ट्य सामान्य आधार 'शारीरिकी और आकरिकी' (फिल्यालोजी एंड मार्फोलोजी) के सामान्य नियम के अपर्याप्त उदाहरण-रूप होती हैं, वैक्तिकतामूलक नहीं। वैक्तिक वैशिष्ट्य का अर्थ निरहंकारता की सिद्धि में स्तरभेद है। वास्तव में मानव-चैतन्य को उपलब्ध विकल्प-बुद्धिमूलक व्यवधान ही इस वैशिष्ट्य का आधार है। इस वैशिष्टय के अनुसार ही अत्यन्त वैविध्यपूर्ण जगत् की भी दृष्टि होती है यह जगत् अब केवल रागात्मक विषय-जगत् नहीं रह कर रागात्मक, विरागात्मक और उभयात्मक वृत्तियों से सृष्टि वस्तु-जगत् के रूप में अविभूं त होता है। पक्षी-गगत् में तिनका और घोंसला दोनों समान रूप से जगत् की घटक वस्तुएं हैं, इसी प्रकार मनुष्य-जगत् में मिट्टी, घट, फैक्ट्री, बैंक, पुत्र, कलत्र मित्र, शत्रु, कर्म और तन्मूलक खेद, पश्चात्ताप और विरक्ति सब वस्तुएँ हैं जो असंख्य स्तरीय मानव-जगत् की सृष्टि में अवयव बनती हैं। इस जगत् से मनुष्य का सम्बन्ध पार्थक्य और विरोध-वाचक 'अचैत्य' का ही नहीं होता, यद्यपि इस प्रकार का भी होता है। पक्षी का भी तिनके, घोंसले, बच्चों और काम-सखा से सम्बन्ध पार्थक्य या विरोध का नहीं होता, जबकि घातक पशु-पक्षियों से और अपनी जाति के अन्य व्यक्तियों से होता है। किन्तु प्रथम प्रकार का सम्बन्ध इस दूसरे प्रकार के सम्बन्ध का विपरीत नहीं होता वह मूलत: भिन्न प्रकार का होता है। उसे (प्रथम प्रकारक सम्बन्ध को) वास्तव में 'सम्बन्ध' नहीं कहकर आत्माभिव्यक्ति का कर्म ही कहना चाहिये। रागात्मिकावृत्ति में मनुष्य के जगत् से सम्बन्ध बहुत कुछ इन्ही दो प्रकारों के होते हैं—आत्माभिव्यक्ततरक और विरोधपरक। सार्त्र मनुष्य में में भी जगत् से केवल रागात्मक सम्बन्ध को ही देखता है और इसमें भी केवल विरोधात्मक प्रकार के, अर्थात् आशंका, भय, अमुरक्षितता और प्रतिरोधपरकता, ये

---

१. द्रष्टव्य आगे —'जगचैतन्य' अध्याय।

सम्बन्ध ही उसका ध्यान पाकृष्ट करते हैं। किन्तु जैसा कि हमने पीछे देखा, मनुष्य का जगत् से सम्बन्ध रागात्मक ही नहीं, विरागात्मक और राग-विरागात्मक प्रकार का भी होता है और इस सम्बन्ध में मूलित जगत् को, जिसक प्रतिष्ठा अहंकारातिक्रमण और पुरुषोल्लेखिता में है, विरोध और प्रेम से परे सर्वथा आत्म सर्जन (आत्माभिव्यक्ति और विरोध-परकता से भिन्न) का क्रम कहा जा सकता है।

२

आत्म और अनात्म

हम जगद्भाव को प्राप्त चैतन्य हैं। किन्तु यह भाव चेतना के लिये अनिवार्य नहीं है। यदि यह अनिवार्य होता तो जगद्विचार के लिये कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती, क्योंकि जगद्विचार जगत् के अभाव की तथा अन्यथाभाव की सम्भावना से ही आरम्भ होता है। किन्तु निवार्य होने पर भी यह भाव चेतना के लिये सहज और दुर्निवार्य है। किन्तु यह भी कल्पनीय है कि जगद्भाव चैतन्य की निरवधिक सत्ता में मात्र एक आकस्मिक घटना है, जो घटित होने पर चैतन्य के लिए सहज और अनिवार्य प्रतीत होती है किन्तु वस्तुतः यह नितान्त आगन्तुक है। किन्तु यदि जगद्भाव सहज भी हो तो भी इसकी निवार्यता इसकी आगन्तुकता को तो प्रकट करती ही है।

जगद्भाव का मुख्य माध्यम देह और इन्द्रियाँ हैं, अथवा कहें, चेतना इस भाव को आपन्न होने पर देहेन्द्रियाधिष्ठित होती है। किन्तु अन्तःकरण और बुद्धि भी इस भाव के साधक बनते हैं। उदाहरण के लिए देहेन्द्रिय स्तर पर भूख, रसना और भोजन परस्परापेक्षी है किन्तु बौद्धिक स्तर पर रसना विश्लिष्ट प्रत्यय के रूप में गृहीत होकर भूख से निरपेक्ष असीम अतृप्ति की कारक बनती है। इस प्रकार जगदोन्मुख अन्तःकरण और बुद्धि जगद्भाव का अनेकधा संवर्धन कर देते हैं।

जगत् का मूल अहंकार को कहा गया है जो ठीक ही है, क्योंकि जगद्भाव सीमित विषयों के माध्यम से अपने को सिद्ध करता है और सीमित विषयों की सृष्टि विषयी को सीमितता के बिना नहीं हो सकती। संवेद्य विषयों की सिद्धि के लिए उनका परिप्रेक्ष्यात्मक होना आवश्यक है जो हमारे देश में बिन्दु विशेष पर स्थित हुए बिना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार वर्ण की सम्भावना के लिए विशेष किरण-दैर्ध्य (वेवलैंथ) से उनका अवलोकन आवश्यक है, अन्यथा सब किरण दैर्ध्य से एक साथ देखने पर वर्ण सम्भव नहीं हो सकता। इसी प्रकार विचार के लिए भी—प्रत्येक

विचार एक व्यवस्था का अंग होता है और यह व्यवस्था अन्य समकक्षी व्यवस्थाओं का निषेध करती है। इसी से प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति के साथ उसकी प्रतिवेधक प्रतिषिद्ध से भिन्न प्रतिज्ञप्तियों की समावेशी होती है। यही बुद्धि का अहंकार है कि वह सब पक्षों से एक-साथ विचार नहीं कर सकती। विचार, भाव, और संवेद सब चेतना के अहंकारमूलक अवगुण्ठ के प्रतिफल हैं। निरहंकार चैतन्य के लिये तन्मूलक विषयी और विषय की उपलब्धि सम्भव नहीं है।

संवेद का अनुभूति में ग्रहण और अनुभूति तथा संवेद पर विचार तत्तदवस्थाओं का अतिक्रमण है, विचार पर विचार प्रथम का दूसरे में अतिक्रमण है। ये सब अहंकार के क्रमिक अतिक्रमण होने पर भी अहंकार के अन्तर्गत ही स्तर-भेद हैं। और जैसाकि हमने कहा, इनकी उन्मुखता विषयपरक होने पर ये निम्नतर अवस्थाओं की पुष्टि ही करते हैं।

यह उन्मुखता जगदोन्मुखता है जिसे हमने चेतना का जगद्भाव कहा है। किन्तु अहंकार और जगदोग्मुखता पर विचार, विचार होने पर भी, इनसे पराङ्मुखता है—प्रयोज्य-मात्र पर सन्देह कि इनका मैं क्या करूँ—किमहं तेन कुर्याम्—आनुभूतिक और बौद्धिक स्फुरण होने पर भी जगन्निवर्तक हैं। और यह जगत्पराङ्मुखता और विवृत्ति उतने ही तथ्य हैं जितना जगद्भाव तथ्य है। जगद्भाव चैतन्य की जागतिकता को प्रकट करता है और जगन्निवृत्ति आत्म की जगद्बाह्यता की प्रकाशक बनती है। दोनों भाव चैतन्य के ही भाव हैं। किन्तु आत्म की जगद्बाह्यता का अर्थ है कि जगद्भाव आत्म-भाव नहीं है। किन्तु जगद्भाव में स्पष्टतः आत्म-भाव रहता है मैं' के बोध के रूप में नहीं, जैसा कि प्रायः समझा जाता है, अपितु अतिक्रामी भोक्ता के रूप में; अधिक उपयुक्त पदावली में कहें, विषयों के विनियोजक के रूप में। उदाहरणतः सम्मुख स्थित मेज की देशावस्थिति आत्म की विषय-वृत्तिकता का—विषयाभिमुखता का—व्यापार है और उसके वर्णादि देहेन्द्रियाधिष्ठान के। यह विनियोजक आत्म कांट के अतिक्रामी आकारों का समकक्षी नहीं है, जगद्भावापन्न आत्म है जो इस भाव से निवृत्त भी हो सकता है। किन्तु जगद्भाव में आत्म प्रकट नहीं रहता, यह विषय-विनियुक्त रहता है; विचार, भाव और वस्तुएँ इसे तन्नियुक्त और आत्म-बहिष्कृत रखती हैं। पाशव-स्तर पर तो यह आत्म मुख्यतः देहेन्द्रियाधिष्ठित ही रहता है और इस प्रकार केवल सांवेदनिक भाव की ही प्राप्त रहता है। परिणामतः इसमें अपनी और अतिक्रमण का कोई आभास भी नहीं रहता। किन्तु यदि विकासवाद या भोग-योनियों का अभ्युपगम सही हो तो यह अभ्युपगम भी सही प्रतीत होता है कि इन

स्तरों पर भी इस अतिक्रमण का प्रयत्न रहता है जो इनमें स्वर-भेद के क्रम से मनुष्य-योनि में प्रतिफलित होता है। किन्तु इस पर ह्यूमीय प्रकार की आपत्ति उठायी जा सकती है और कहा जा सकता है कि आत्म-संज्ञक कोई वस्तु है ही नहीं, केवल विषयच्छटा ही है, केवल एक मनोवैज्ञानिक भाव है जो 'मैं' पद-वाच्य है। किन्तु यह आपत्ति पूर्णत: निरर्थक है, क्योंकि ह्यूम आत्म को पीत, कठोर आदि के समानस्तर के एक विषय रूप में खोजता है जो ग्राम्यजन्य भी नहीं करते, और तब उसे नहीं पाकर उसकी कल्पना घोषित करता है। ह्यूम के समान ही बौद्धों ने भी आत्म को कल्पना कहा है—उनके अनुसार यह संस्कार-प्रवाह मात्र है। किन्तु यह भी केवल विषयात्म का, मनोवैज्ञानिक अहंबोध का, निरूपण है जिस पर किसी को आपत्ति नहीं नहीं हो सकती। किन्तु आत्म न संवेद्य विषयों में एक विषय के रूप में अभिप्रेत है, न मनोवैज्ञानिक स्तर के अहम्परक अनुभव के रूप में, न संस्कार-प्रवाह के संयोजक के रूप में ही अभिप्रेत है। जगद्भाव की अवस्था में यह आहंकारिक उपाधियों के रूप में अभिप्रेत है और जगन्निवृत्ति की अवस्था में यह उस अनिवार्यता के रूप में अभिप्रेत है जो सब आगन्तुकताओं का अतिक्रमण कर उन्हें उस नाम से अभिहित करती है। अथवा कहें, यह उस बोध के लक्ष्य के रूप में अभिप्रेत है जो आहंकारिक उपाधियों की अनात्मता को प्रकट करता है। इस बोध को मनोवैज्ञानिक कहना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा कहने का अर्थ केवल यही होगा कि इस बोध का उपादान प्राकृतिक है। अब यदि यह मान भी लिया जाय कि इस बोध का उपादान प्राकृतिक है, तो भी इसका स्वरूप क्या है, संकेत क्या है, अभिप्राय क्या है, यह इससे द्योतित नहीं होता। भोजन की इच्छा, शेर से भय और इस इच्छा का निरोध तथा निर्भयता की सिद्धि चारों मनोवैज्ञानिक हैं, किन्तु इनके स्वरूप मूलत: भिन्न हैं। निरोध के प्रयत्न के प्रयत्न भाग की भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या सम्भव है, किन्तु इस प्रयत्न के अर्थ या प्रयोजन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं होगी। यह प्रयत्न विषयोत्तरपरक है और उसी से मूलित है। जगद्भाव की सार्थकता में संदेह और जगन्निवृत्ति की सिद्धि आत्म की जगद्बाह्यता के सूचक हैं और जगत् इसके विपरीत भाव के रूप में आत्म की जगद्भावापन्नता का सूचक है। इस प्रकार जगत् भी आत्म की ही आत्मपराङ्-मुख वृत्ति के रूप में प्राप्त होता है।

× × × ×

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार जगत्प्रवृत्ति और जगन्निवृत्ति दोनों आत्म के सहज व्यापार है, यद्यपि जगत्प्रवृत्ति की अवस्था में निवृत्ति का प्रवर्तन एक प्रयत्न-साध्य व्यापार है; किन्तु जगत्प्रवृत्ति सहज होने पर भी आत्म की स्वरूप-भ्रष्टता है; क्योंकि जगत् विषय के रूप में और जगद्भाव के रूप में भी आगन्तुक और सन्दिग्ध है।

इसकी आगन्तुकता इस बात से सिद्ध है कि इसके अन्तर्गत विशिष्ट वस्तुएं ही नहीं, जगत् अपनी समग्रता में भी उससे अन्यथा होना सम्भव है, जो यह है। इतना ही नहीं, इसका अभाव होना भी सम्भव है; और जब मैं जगत् के सन्धारक के रूप में, विनियोजक के रूप में, अपने ही अस्तित्व को आगन्तुक पाता हूँ तब, छूँछापन असद्रूपता रेत के घरौंदे से भी अधिक मुखरता के साथ प्रकट हो जाती है। आगन्तुकता जगत् के और मेरी जागतिकता के असद्भाव को प्रकट करती है। यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि मेरा इस समय देशविशेष में होना आगन्तुक है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मैं इस समय देश-विशेष में नहीं हूँ। यह सही है, किन्तु मेरे यहाँ नहीं होने की सम्भावना से यह आपादित होता है कि यहाँ पर होना मेरा स्वरूप-धर्म नहीं है। इस प्रकार मेरे तथा जगत् के नहीं होने की सम्भावना जगत् की और मेरी नितान्त आगन्तुकता को और इस प्रकार निःस्वभावता को प्रकट करती है।

इससे जगद्भाव की निरर्थकता प्रकट होती है; किन्तु यह निरर्थकता इससे अधिक प्रत्यक्ष रूप में भी प्रकट होती है। जगत् की सार्थकता हमारी एषणाओं के रूप में प्राप्त होती है। इस प्रकार अधिकार, काम, रसेच्छा आदि जगत् की सार्थकता के विधायक होते हैं। इनकी तृप्ति की खोज हम अपनी पूर्ति के रूप में करते हैं; किन्तु इनकी तृप्ति हो जाने पर जबकि एक सुख मिलता है, मनन से आत्मपूर्ति के रूप में इस अन्वेषण की भ्रामकता प्रकट होती है। एषणाएँ आत्म में अभाव के रूप में ही प्रकट होती हैं; किन्तु इनकी तृप्ति हो जाने पर हम आत्म में कोई भी अभिवृद्धि हुई नहीं पाते। यह अपूर्णता और इसकी पूर्ति कारण-कार्यात्मक प्रकार की होती हैं। इससे पूर्ति पुनः उसी स्तर की अपूर्णता में परिणत होकर उसी स्तर की, उसी स्वभाव की, आकांक्षा को उत्पन्न करती है। किन्तु इस तृप्ति से कोई अभिवृद्धि नहीं हुई होने का बोध इस तृप्ति के लिए अनुधावन को अनात्म के अनुसरण के रूप में प्रकट करता है, जिससे खेद और क्लान्ति उत्पन्न होती है। मनुष्य ने इस तृप्ति की आत्म-तृप्ति के रूप में निरर्थकता को, अथवा कहें इसकी अनात्मता को, प्रायः अपने शैशव में ही देख लिया था, क्योंकि हम आदिमतम अवस्थाओं के मानव समाजों में भी देहेन्द्रिय स्तर की पूर्तियों को अनात्मता का बोध पाते हैं, यह बोध कितना भी अपरिष्कृत चाहे क्यों नहीं हो। नैतिक बोध का आधार यह बोध ही है, यद्यपि यह स्तर बहुत स्थूल है; किन्तु मुख्य बात इस दृष्टि से आविर्भाव की है जो नैतिक बोध के रूप में मनुष्य सर्वत्र उपलब्ध होती है। नैतिकता का मूल देहेन्द्रियमूलक एषणाओं की निग्रहोचितता का बोध हैं। इस पर आपत्ति हो सकती है कि इस बोध की युक्तता का क्या प्रमाण है? इसकी अभ्रान्तता कैसे सिद्ध है? यह आपत्ति भी नवीन नहीं हैं, किन्तु यह इस

भ्रान्ति पर प्रतिष्ठित है कि बोध तर्क पूर्वक होता है, जबकि वस्तुतः तर्क बोधपूर्वक होता है।

एषणाएं आत्म के देहेन्द्रियाधिष्ठान की परिणाम होती हैं, अर्थात् इनका अनुभव मेरी देहाकांक्षा और इन्द्रियाकांक्षा के रूप में नहीं होकर आत्माकांक्षा के रूप में होता है—मैं भोजन और रस के लिये व्याकुल होता हूँ। परिणामतः इनकी पूर्ति मुझे पूरित करती है। इस प्रकार इन एषणाओ की निग्रहोचितता का बोध आत्म की निग्रहोचितता का बोध होगा, जोकि बदतोव्याघात है, क्योंकि आत्म का निग्रह किस सिद्धि के प्रयोजन से हो सकता है ? इस प्रकार यह बोध इस आत्म की औपाधिकता को प्रकट करता है, क्योंकि किसी एषणा की निग्रहोचितता का अर्थ है, उस अभाव और उसकी पूर्ति का असत् होना, अर्थात् इसका केवल प्रातीतिक होना कि यह अभाव आत्मपरक था और इसकी पूर्ति आत्मपूरक होगी। इससे देहात्म और इन्द्रियात्म आदि की औपाधिकता या अनात्मता प्रकट होती है, जोकि चैतन्य के जगद्भाव में व्यतिक्रम घटित होने की सूचक है।

× × × ×

मनुष्य की स्थित दो विरोधी आकर्षणों के मध्य बिन्दु पर है। पाशव चेतना पूर्णतः बाह्योन्मुख चेतना है। बाह्योन्मुख चेतना देहेन्द्रियाधिष्ठित होकर इनके विषयों को समर्पित रहती है। बाह्योन्मुख प्रवृत्ति इस स्तर पर इतनी दुर्धर्ष रहती है कि अन्तःकरण और बुद्धि या तो अंकुरित ही नही हो पाते या जहाँ अंकुरित होते भी हैं वहाँ ये पूर्णतः विषय के परतन्त्र ही रहते हैं। किन्तु मनुष्य में इस वृत्ति का व्यतिक्रम भी दिखायी देता है। इसमें बुद्धि विषयों में एक आन्तर विस्फोट घटित कर इन्हें घटना और अन्तर्वस्तु के रूप में विभक्त कर देती है, और अन्तर्वस्तु के रूप में विषय एक ओर कालातींत स्मृति को और दूसरी ओर निरवधिक धर्मता को समर्पित हो जाता है। विषय का घटनात्मक पक्ष, जोकि देहेन्द्रिमूलक है, इस विश्लेषण से नितान्त आग्रह्य और गौण हो जाता है। स्मृति में विषयों का कालातीत संग्रह काल के एक दूसरे आयाम को सम्भव करता है। यह काल का मूल्यात्मक आयाम है।[1] मूल्य उत्कर्ष-साधन का प्रयत्न है, जो पूर्ति के कारण-कार्यात्मक से भिन्न परिष्कारात्मक-संशोधनात्मक सन्दभ को जन्म देता है। परिष्कार विषय-सम्बद्ध और आत्म सम्बद्ध दोनों प्रकार का हो सकता है किन्तु वास्तव में सब

१. द्रष्टव्य यशदेव शल्य—विषय और आत्म, पृ० ५६-६५, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जयपुर, १९७२।

परिष्कार अन्ततः आत्मसम्बद्ध ही होता है[1]; क्योंकि सब परिष्कार्य विषय बुद्धि-ग्राह्य विषयों (धर्मों) की देहेन्द्रिय-ग्राह्य विषयों में पुनर् रचना के प्रयत्न होते हैं।[2] यह व्यापार एक प्रकार से चेतना के संसारावतरण के अनुरूप होता है। दोनों व्यापार चेतना के अपने को अन्य माध्यम से पुनरधिगत करने के व्यापार हैं। सब परिष्कार पुनरधिगमन का ही क्रम होता है, जो बाह्य विषयों में प्रत्यय की स्वरूप-सिद्धि को प्रतिफलित करता है।

जैसाकि हमने ऊपर कहा, विषय-परिष्कार परोक्षतः आत्म-परिष्कार ही है, किन्तु आत्म-परिष्कार का प्रत्यक्ष प्रसंग पश्चात्ताप खेद और क्लान्ति-जनक अनुभव के अवसरों पर प्रस्तुत होता है। पश्चात्ताप आत्म के अन्यथाभाव पर मनन के परिणाम-स्वरूप होता है और अपने सम्मुख अपनी स्वरूपभ्रष्टता को प्रकट करता है। यह आत्म का आत्म-निराकरण, आत्म-प्रतिषेध है। निराकृत और प्रतिषिद्ध होकर भी आत्म ही है, क्योंकि यह आत्म होने से ही पश्चात्ताप का स्रोत है; किन्तु तब भी यह आत्म नहीं है, क्योंकि यह आत्म रूप में ही निषिद्ध है। यह आत्म के अन्यथात्व का उनकी अन्तर्गत निराकरणीयता का अन्तर्गत विसंगति और वैपरीत्य का, बोध है। पश्चाताप और खेद मेरे वह होने पर है, जोकि मैं नहीं हूं, यह उसकी निराकणीयता का बोध है, जो आत्म के अन्तर्गत उसका बाधक है, जो मद्गत आत्म विसंगत है। हमारी यह स्वरूप-गत आत्मविसंगति पदे-पदे प्रकट होती है और हममें खेद और क्लान्ति को उत्पन्न करती है—अजीर्ण मेरी रस-लिप्सा की और पराजय अधिकार और प्रभुता की एषणाओं की व्यर्थता को सहज में प्रकट कर देते हैं, यद्यपि तृप्ति और विजय पर मनन भी इनके अनुसरण की व्यर्थता को उतना ही प्रकट करते हैं। केवल तृप्ति और विजय मनन को साधारणता प्रवर्तित नहीं करते। ये सब आत्म-बोध के और अनात्म-विवेक के क्षण हैं। इन पर मनन जगद्भाव मात्र की आगन्तुकता, निरर्थकता, निवारणीयता और इस प्रकार अनात्मता को प्रकट करता है।

× × × ×

निवारणीय आत्म अनात्म है। इस प्रकार अनात्म आत्मगत दोष है, जिसका निवारण आत्मप्रापक होता है। दोष का बोध अदुष्टता के बोधपूर्वक होता है, जिससे

१. द्रष्टव्य गोविन्दचन्द्र पांडे—मूल्य मीमांसा, पृ० २५१-२६१, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, १९७३।

२. यहाँ 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग हम व्यापकतर अर्थ में कर रहे हैं।

आत्मा की स्वरूपगत अदुष्टता सिद्ध होती है ; किन्तु आत्मगत दोष का बोध वास्तव और भाव्य के बीच तनाव का बोध है, यह अदूष्य के भाव या वास्तवता का बोध नहीं है। अदूष्य यदि भाव या वास्तव हो तो दोष की सम्भावना नहीं रहेगी और इस प्रकार निवारण का प्रयत्न, पश्चात्ताप और खेद अस्थाने होगा। किन्तु हमारी प्राप्त स्थिति आत्म और अनात्म के बीच, दोष और अदूष्य के बीच तनाव की स्थिति है—अदूष्य हमारा परमार्थ है और इस प्रकार परमार्थतः स्वरूप-सत् है, किन्तु यह भाव्य और साध्य है, यह सिद्ध नहीं है। अनात्म भाव और सिद्ध है, किन्तु निवारणीय है और अतएव असत् है। दूसरे शब्दों में, अनात्म भाव है, किन्तु असत् है; जबकि आत्म अभाव और सत् है। इसे एक सदोष कला-कृति के उदाहरण में समझने में सरलता होगी। कला-कृति में दोष का बोध उसके अदूष्य रूप का आक्षेप करता है। दोष कृति की आत्मा में अनात्म की, एक अन्तर्गत विदेशी तत्त्व की, विद्यमानता है। दोष वास्तव है, क्योंकि यदि यह वास्तव नहीं होता तो कृति अदुष्ट होती, किन्तु यह उसकी आत्मा नहीं है क्योंकि यदि यह आत्मा होती तो इसके सदोष होने का कोई अर्थ नहीं होता। इस प्रकार कृति स्वरूपतः भाव्य है और भावतः स्वरूपभ्रष्ट है। भाव और भाव्य के बीच सब तनावों का अन्तिम अधिष्ठान आत्म और अनात्म के बीच तनाव में है, क्योंकि सब अपूर्णताएँ आत्म-लक्षी होती हैं।

इस पर आक्षेप किया जा सकता है कि भाव्य पूर्णता स्वरूपसिद्ध पूर्णता नहीं है, यह आक्षिप्त पूर्णता है, जो अपूर्णता की सापेक्ष है; इसकी अपनी कोई अन्तवस्तु भी नहीं हो सकती, इसकी अन्तर्वस्तु केवल अनात्म-निषेध ही हो सकती है—यह निषेध पर आश्रित और उसी से आपूर्ण हो सकती है, किन्तु यह आपत्ति सही नहीं है। दोष का बोध अदूष्य का आक्षेपक नहीं होता, यह अदूष्यता-पूर्वक होता है। अदूष्य के भाव्य होने से यह अधिगत नहीं रहता, क्योंकि यदि यह अधिगत हो तो यह भावरूप ही होगा, भाव्य नहीं होगा ; किन्तु यह दोष का निरूपक, उसका अभिधायक होता है, यह उसका नामकरण कर उसका निराकरण करता है। इस प्रकार दोष अदूष्यपूर्वक होता हैं। किन्तु अदूष्य की पूर्वता कालात्मक नहीं है, यह सत्तात्मक पूर्वता है—आत्म भाव्य सत् है, यह सत् है, जो अवस्तु-सिद्ध है।

३

जगद्-वासना

सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा इदंसर्वम-सृजत यदिदं किंच । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च, विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्याभवत् । यदिदं किंच ।[1]

पिछले अध्याय में हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे उसे एक वाक्य में कहें तो कहा जायगा कि 'जगत् मनुष्य का जगद्भाव है ।' किन्तु उस अध्याय में हमने जगत्-पक्ष को ही मुख्य रूप से देखा था, मनुष्य-पक्ष या भाव (जगद्भाव) पक्ष को नहीं । वह हम इस अध्याय में देखेंगे । 'मनुष्य' शब्द इस वाक्य में देखने वाले का, विषयी का वाचक है, 'भाव' शब्द विषयी के विषय के साथ सम्बन्ध का । 'जगत्' शब्द यहाँ सामान्य रूप से 'विषय' का वाचक है, किन्तु विषयी वह है, जो तत्काल विषय के ग्रहण की प्रक्रिया में है; उसी प्रकार, जो विषयी के ग्रहण का अव्यवहित रूप से ग्राह्य है । किन्तु ग्रहण की अव्यवहितता में न 'मनुष्य' होता है, और न 'जगत्', इसमें देखने की एक क्रिया होती है, जिसको दो पक्षों में बाँट कर हम विषय और विषयी कह देते हैं । उदाहरण के लिए 'मैं पुस्तक देख रहा हूँ' में 'देखना' क्रिया है, जिसके एक पक्ष में आँख (चक्षु इन्द्रियाँ) और दूसरे पक्ष में कोई रग और आकार है । पर असल में तो न

---

१. उस परमात्मा ने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ—अनेक हो जाऊँ, इसलिये उसने तप किया । उसने तप करके हीं, यह जो कुछ है, उस सबकी रचना की । इसे रचकर वह इसी में अनुप्रविष्ट हो गया । इसमें अनुप्रवेश कर वह सत्यस्वरूप परमात्मा मूर्त-अमूर्त, वाच्य अवाच्य, आश्रय-अनाश्रय, चेतन-अचेतन एवं सत्य असत्य रूप हो गया । यह जो कुछ है उसे ब्रह्मवेत्ता लोग 'सत्य' इस नाम से पुकारते हैं । (तैत्तिरीयोपनिषद् अनुवाद, ६; १)

कोई देखना केवल रंग विशेष का होता है और न देखने वाली मात्र चक्षु इन्द्रिय होती है, देखने वाला 'मैं' (अस्मिताभाव युक्त व्यक्ति) होता है, जिसमें चक्षु इन्द्रिय केवल एक अंग होता है, और देखा जाने वाला विषय एक वस्तु होती है, जिसमें रंग विशेष केवल एक घटक होता है। रंग का आधार एक वस्तु है, जो जब भी चाहे देखी जा सकती है; और जिसका यह रंग है और वस्तु तथा इस रंग में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार 'मै' एक दूसरी ऐसी वस्तु है, जो जब देखती है, तब वह चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त छू सकने, सूँघ सकने और सुन सकने की योग्यता रखती है, और ये योग्यताएं उसमें विशेष काल में क्रिया में आ जाने की तैयारी में विद्यमान होती हैं, वास्तव में 'मैं' इससे भी बहुत जटिल होता है, और इसी प्रकार पुस्तक भी होती है, और वास्तव में देखने की क्रिया के उस काल में ये दोनों पक्ष अपनी पूरी जटिलता के साथ विद्यमान होते हैं। 'मैं' इसी जटिल विषयी का और 'पुस्तक' इस जटिल विषय का वाचक है। कुछ दार्शनिक लोग इन जटिलताओं को हटा कर इस क्रिया के तात्कालिक क्षण में उसी एक क्रिया को और उसके विषय को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं, और इन्हीं को वस्तु सत् का वास्तविक ज्ञान कहते हैं। दिङ्नाग के शब्दों में 'यह स्वलक्षण वस्तु का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है,'[1] और इंग्लैण्ड के अनुभववादियों के शब्दों संवेद-प्रदत्तों का संवेदन है।[2] किन्तु जैसा कि हमने पिछले अध्याय में देखा है, विषय रूप में प्रस्तुत पुस्तक वास्तव में पुस्तकत्व से युक्त है, उसके अतिरिक्त यह भौतिकता से युक्त है, और इसे इन दो प्रकारताओं से पृथक् नहीं किया जा सकता। किन्तु पुस्तकत्व का उस प्रत्यय से पहले और पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है, जो मेरे द्वारा विकल्पित होता है; और इसी कारण दिङ्नाग और अनुभववादी इसे विकल्प कहते हैं, जिससे उनका आशय है कि यह असत्य है। जो बात वे जिस आधार पर पुस्तक के लिए कहते हैं, वही बात और उसी आधार पर 'मैं' के लिए भी कहते हैं। किन्तु हमारे इस तथाकथित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी एक विकल्प रहता है, और वह यह कि जिस वस्तु को हम आँख से

---

१. द्रष्टव्य धर्मकीर्ति विरचित अपोहसिद्धि के 'अनुवाद एवं व्याख्या' में डा० गोविन्दचन्द्र पांडे लिखित विमर्श (अखिल भारतीय दर्शन परिषद्)।

२. द्रष्टव्य—G. E. Moorc-Philosophical Studies, Chap. V. The statues of Sense—Data, (Routledge and Kegan paul, London, 1922.)

B. Russell—Our knowledge of the External World George Allan and Unvin, London, 1914.)

रंग के रूप में देखते हैं, उसी का स्पर्श ठण्डे-गर्म आदि के रूप में ग्रहण करते हैं। यह तथ्य ऐन्द्रिक विकल्पक का द्योतक है।

दिङ्नाग और कांट के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (प्रतिभास) में यह एक अंतर्निहित कठिनाई है। इससे बचने के उपाय के रूप में स्वलक्षण वस्तु को छोड़ा जा सकता है। वसुबन्धु और बर्कले की व्यवस्थाओं में यही किया गया है। किन्तु इससे कठिनाई का समाधान नहीं होता, क्योंकि वर्ण-प्रतिभास और ध्वनि प्रतिभास में मौलिक भेद है, और इस भेद के विषय-पक्ष में एक आश्रय को यदि आप हटा भी दें तो विषयी-पक्ष में वही कठिनाई आ जायगी, अर्थात् विभिन्न प्रतिभास एक विज्ञान की विभिन्न उपाधियाँ हो जायेंगे। इस प्रकार, वसुबन्धु जब कहता है कि 'सत्' केवल विज्ञप्ति-मात्र है, उसमें अवभासित अर्थ (वस्तुएँ) असत् हैं'[1] तब या तो प्रत्येक अवभास को अलग सत् मानना पड़ेगा, नहीं तो वही कठिनाई होगी। वसुबन्धु और दूसरे बौद्ध यही मान लेते हैं, उनके लिए सत् क्षणिक है।

अब यहाँ दो बातें देखने की हैं, एक तो यह कि जब हम 'मैं' और 'पुस्तक' के सरल और सत् आधारों को खोजने चले, तब सब छोड़ देने पर अन्त में जो बचा वह 'मैं' पक्ष का क्षण ही है, 'पुस्तक' पक्ष का क्षण नहीं। पर कुछ दार्शनिक पुस्तक-पक्ष का क्षण भी रखना चाहते हैं। वह चाहे रखा ही जाय, पर 'मैं' पक्ष का क्षण तब भी मूल आधार रहता है। 'पुस्तक' पक्ष के क्षण को भी जो रखना आवश्यक समझते हैं, वह इसलिए कि जिससे 'मैं' पक्ष अधिक सुदृढ़ रहे। उदाहरण के लिए, कांट स्वलक्षण वस्तु को मानने के लिए तर्क देते हैं कि 'प्रतीति' के लिए यह आवश्यक है कि कोई प्रतीत होने वाली वस्तु भी हो।[2] वे ऐसा नहीं कहते कि 'वस्तु के लिए यह आवश्यक है कि कोई उसकी प्रतीति भी हो। अर्थात् प्रतीति तो है ही, उसके लिए कोई प्रमाण दिया ही नहीं जा सकता, क्योंकि प्रतीति आधारभूत प्रमाण है, उसके लिए कोई प्रमाण नहीं हो सकता। पर वस्तु के लिए प्रमाण की आवश्यकता है, और इस प्रकार वस्तु परोक्ष हो जाती है। दूसरे शब्दों में, चैतन्य अपरोक्ष, आदि सत् है, जो कुछ भी है, वह चैतन्यपूर्वक है।

---

१. वसुबन्धु—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः, विंशति कारिका-वृत्ति, कारिका १ : 'विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदर्थावभासनात्'।

२. Kant—Critique of Pure Reason, Preface to the Second Edition, Bxxvi-Bxxvii.

पर यह चैतन्य क्या है ? इसका पहला उत्तर तो होगा कि यदि चैतन्य अपरोक्ष है तो यह प्रश्न उसके बारे में नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस प्रश्न में यह निहित है कि वह अपरोक्ष नहीं है, उसका परिभाषा से इस या उस प्रकार निर्धारण किया जा सकता है।

यह आपत्ति सही है, क्योंकि इस प्रकार चैतन्य, और नहीं तो शब्द से तो व्यवहित हो ही गया। किन्तु इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि शब्द व्यवधान नहीं है, झरोखा है, क्योंकि शब्द अवधारण का स्थानीय है और अवधारण स्वयं चैतन्य है। जैसा कि हम जानते हैं, बहुत से दार्शनिक हैं, जो अवधारण को उपाधि, विकल्प या आरोप मानते हैं, और इस प्रकार झरोखा ही नहीं, कारण या साधन भी नहीं मानते, बल्कि व्यवधान मानते हैं।

भारत और पश्चिम दोनों परम्पराओं में इस प्रकार के दार्शनिकों की बहुत बड़ी संख्या है। पर जैसा कि हमने ऊपर कहा, जो बात अवधारणा के लिए कही जा सकती है, वह इन्द्रिय-विज्ञान के लिए भी कही जा सकती है, और वही अनुभूति तथा सहज प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) आदि के लिए भी कही जा सकती है। सबसे बड़ी बात यह है कि दर्शन अवधारणाओं के द्वारा ही होता है, फिर चाहे वह वसुबन्धु का हो, बर्गसां का हो, या दिङ्नाग का हो। जब दिङ्नाग कहता है कि 'शब्द विकल्प-योनि हैं'[1] तब वह विकल्प ही को आश्रित कर इस सत्य का कथन करता है। ऐसा कैसे होता है कि अवधारणा को व्यवधान मानने वाले दार्शनिक अवधारणा के माध्यम से अवधारणा के सम्बन्ध में ऐसा कह पाते हैं और इन्द्रिय-विज्ञान या अनुभूति आदि के सम्बन्ध में भी कह पाते हैं ?

ऐसा इस कारण होता है, क्योंकि अवधारणा, इन्द्रिय-विज्ञान और अनुभूति आदि सब चैतन्य की ही विधाएँ हैं और ये जब जब अपने को ज्ञापित करती हैं, तब यह चैतन्य ही है, जो ज्ञापित होता है। किन्तु चैतन्य विषय-ज्ञापक भी होता है, और कुछ लोगों का तो मत है कि वह स्वभाव से विषय-ज्ञापक ही होता है, आत्म-ज्ञापक वह होता ही नहीं। अवश्य यह विषय-ज्ञापक भी होता है, यह भी सही है कि सहज रूप में चैतन्य विषय-ज्ञापक भी होता है, यहाँ तक कि ज्ञानेन्द्रियों ने तो शरीर में बाहर की ओर अपने द्वार ही बना लिए हैं और अन्तःकरण भी ज्ञानेन्द्रियों से ही अपने को सम्बन्धित रखता है; किन्तु वह आत्मज्ञापक भी हो सकता है, कम से कम विचार समर्थ प्राणी में

---

१. 'विकल्पयोनयः शब्दाः, विकल्पाः शब्दयोनयः'।

वह आत्मज्ञापक भी होता है। यही कारण है कि हम विषय के साथ दृष्टि की, अन्य के साथ आत्म की, बात करते हैं और इन दोनों पक्षों को पहचानते हैं।

अब तक हमने देखा है कि दृष्टि-पक्ष की बहुत सी विधाएँ हैं। इन्हें 'विधाएँ' कहने का अर्थ है कि हम इनके परे किसी एक वस्तु की विद्यमानता स्वीकार करते हैं, जो इन विधाओं में बँटती और आकार लेती है। विभिन्न विधाओं में विभक्त इस 'एक' को हम जीव कह सकते हैं। किन्तु यदि इस एक को हम 'जीव' कहते हैं, तब दुबारा वही विभाजन है, क्योंकि यह 'एक' अन्य से भिन्न और अन्य से परिसीमित है। यह आवश्यक नहीं है कि अन्य इस 'एक' के समान जीव ही हो, इस 'अन्य' में जीव भी है और अजीव भी है, जैसाकि पिछले अध्याय में देखा था। किन्तु जीव की अजीव से परिसीमितता भी उसे उसीप्रकार विभक्त बनाती है, जिस प्रकार जीवों से परिसीमितता बनाती है। यदि मैं ब्रह्माण्ड में एक अकेला देखने वाला हूँ और शेष सब दिखाई देने वाला अजीव-समुदाय ही है, तो भी मैं अपने को विभक्त और परिसीमित देखता हूँ, क्योंकि इस ओर मुझे यह मेज़ परिसीमित करता है और उस ओर वह कुर्सी परिसीमित करती है। यह देखने की बात है किन्तु वह आवश्यक नहीं है कि परिसीमन को द्रष्टा जानता ही हो। यदि यह प्रस्तुत विषय में अपने को खो देता है, तो वह इस सीमा को देख नहीं पाता। किन्तु यदि वह सदेह है तो वह देश में परिसीमित है ही, और यदि वह देखता है, तो यह 'एक' का घटित होना है, और यह घटना उसे काल में भी परिसीमित करती है। ये दोनों सीमाएँ ही उसे जीव बनाती हैं। चैतन्य में यह एक दूसरे प्रकार की विधा है, जिसे हम अहंकार कह सकते हैं। 'अहंकार का अर्थ अन्य से पृथक् अपना अपनेपन के रूप में ज्ञान या बोध नहीं है, अपनेपन का यह बोध अहंकार का विषय के रूप में बोध है, जिसे हम 'अस्मिता' कह सकते हैं। स्वयं 'अहंकार' का अर्थ चैतन्य में अस्तित्व की सीमितता मात्र है। इस प्रकार जीव में देह का होना और ज्ञान तथा क्रिया में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का होना ही विभाजन होना और इस प्रकार सीमाओं का होना है, और यह सब अहंकार है। यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि मेज भी कुर्सी से और कुर्सी मेज से पृथक् है, और ये सीमाएँ ही इन्हें मेज और 'कुर्सी' बनाती हैं। पर ये सीमाएँ वस्तुगत नहीं हैं, मेज और कुर्सी ये अपने में सीमाएँ नहीं हैं, ये सीमाएँ, जैसा कि पिछले अध्याय में हमने देखा, 'मेज' और 'कुर्सी' के रूप में तो नाम के द्वारा बनीं हुई हैं, और इस प्रकार प्रत्यय-मूलक हैं, और इस नाम-भेद के बिना देह की विधा से और इन्द्रिय की विधा से उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार ये सब विषयगत भेद या सीमायें भी चेतनामूलक और इस प्रकार अहंकार-मूलक हैं। इस प्रकार अस्मिता और अहंकार में अन्तर है, अहंकार चैतन्य का परि-

सीमन है, अस्मिता अहंकारोपहित चैतन्य का अपनी ओर लौट कर आत्मदर्शन है, यह अपनी सीमितता का, आहंकारिकता का बोध है, क्योंकि 'आत्म' का ग्रहण, 'मैं हूँ' इस बोध के साथ ही अन्य से भिन्न और अन्य से परिसीमित होने का बोध भी है है। दूसरे शब्दों में, यह अपनी ओर लौट कर अपना सीमित विषय के रूप में दर्शन है।

अस्मिता, या आत्मा के रूप में अपना ग्रहण, यह उस चैतन्य की विशेषता है जो अवधारण करने में, विचार करने में समर्थ है, जो विकल्पात्मक है। यह चैतन्य द्वारा अपनी ज्ञान-क्रिया या दूसरी किसी क्रिया में अपना ग्रहण है। यह विकल्प अपने विषय का ग्रहण सम्भावना के रूप में अन्य विषयों के निषेध के साथ करता है। यही स्थिति उसके अपने ग्रहण में भी है, विषय के रूप में वह भी सम्भावनात्मक है और अन्य के निषेध और अन्य से निषिद्ध के रूप में ही गृहीत होता है। इस प्रकार अस्मिता आत्मोन्मुख विकल्प द्वारा सृष्ट विषय है, और यही उसकी परिसीमितता का भी कारण है। किन्तु विकल्प, जो कि अस्मिता का सर्जक और ग्राहक है, स्वयं अतिक्रामी अहंकार में उत्पन्न होता है, जिस कारण वह स्वयं भी अपने आधार में, अपने स्वरूप में, परिसीमित है। वास्तव में जितनी भी विषय-सृष्टि है, वह इसी प्रकार विविध, परस्पर व्यावृत्त और सम्भावनात्मक है, अर्थात् जैसी है उससे अन्यथा हुए होने की सम्भावना से युक्त है।

सीमित वस्तु काल में भी सीमित होती है, अर्थात् उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। जैसाकि ऊपर देखा सीमितता का हेतु अहंकार है, नहीं तो विषय में सीमितता और वैविध्य नहीं हो सकता। सांख्य ने प्रकृति को स्वयं में जो सामान्य कहा है उसमें यही युक्ति है।[1] अहंकार भी यद्यपि प्रकृतिमूलक ही है, किन्तु प्रकृति अपने आपसे अहंकारात्मक नहीं हो सकती, इसका आविर्भाव चैतन्य के प्रसंग से ही होता है। इस प्रकार अहंकार वास्तव में चैतन्यपरक ही है, और यह सीमाओं का हेतु होने के साथ-साथ स्वयं भी सीमित है। अब, अहंकार का, और इस प्रकार विषय-वैविध्य का, हेतु क्या है ? अहंकार के विषय का हेतु होने से अहंकार का हेतु विषय-प्रवर्तन की वासना को कहा जा सकता है। इससे हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि इस प्रवर्तन का कोई कर्ता भी हैं, क्योंकि कर्तृत्व अहंकारमूलक होता है और इस प्रकार अहंकार का हेतु भी अहंकार हो जाता है; किन्तु यह मानना युक्त प्रतीत नहीं होता।

---

१. ईश्वरकृष्ण—सांख्यकारिका. ११।

इसकी अयुक्तता इस बात में नहीं है कि इसमें अनवस्था दोष है, बल्कि इस बात में है कि सीमित का अन्तिम आधार सीमित को मानने का अर्थ होगा, सीमित को अपने स्वयं का आधार मानना। यह वदतोव्याघात है। इसलिए अहंकार का हेतु विषय-प्रवर्तन की निरहंकार वासना को कहा जा सकता है, यह विषय-प्रवर्तन-वासना स्वयं में सविषया नहीं है, यह विषय की अपेक्षी है, जो अहंकार और विषयों के आविर्भाव की हेतु होती है—सोऽकामयत, एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेयेति।

यह वासना अनादि है, इसे सादि मानने का अर्थ होगा इसे सीमित और साहंकार मानना और इस प्रकार इसके अन्य आधार की अपेक्षा करना। वासना का आधार वासना-शून्य चित् को मानने में वासना की उत्पत्ति का हेतु कोई नहीं रहेगा। उपर्युक्त उपनिषद्-मन्त्र में ऐसा ही कहा गया है, जैसे मानों वासना की उत्पत्ति अहेतुक है। किन्तु वासना को अनादि मानने का यह भी अर्थ होगा कि यही आदि हेतु है और इस प्रकार 'चित्' और 'वासना' पर्यायवाचक हो जाते हैं। इस प्रकार वासना को आदि हेतु, अपना आधार आप, नहीं माना जाना जाना चाहिए। किन्तु ये दोनों विकल्प स्वीकार्य नहीं हो सकते। इसी से वेदान्त ने वासना को अनादि मानते हुए भी असत् माना है और चित् को सत् और वासना शून्य माना है। यही सांख्य और बौद्धों का भी समाधान है।

इसका क्या अर्थ है? यह समाधान सचमुच विचार की साधारण कोटियों का उल्लंघन करता है। किन्तु इसमें कुछ तथ्य है। प्राचीन आचार्यों ने वासना की असत्ता सिद्ध करने केलिए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि विषय-जगत् असत् या मिथ्या है, और इसके प्रमाण के रूप में उन्होंने साधारण भ्रम, स्वप्न और विभ्रम (हैल्यूसीनेसन) आदि के उदाहरण दिये। श्री अरविन्द ने इनके विपरीत यह दिखाने का प्रयत्न किया कि विशेष सत्-प्रतीतियों के वास्तव में असत् होने सम्बन्धी ये उदाहरण सत्-प्रतीति मात्र के विषयों की असत्ता सिद्ध नहीं कर सकते।[१] ठीक यही तर्क पश्चिम में भौतिक विषयों को वास्तव में संवेद-प्रदत्तों से रचनायें सिद्ध करने वाले दार्शनिकों के विरुद्ध लोक-बुद्धि प्रमाणवादियों ने दिया है।[२] तर्क यह है कि रस्सी में सर्प का भ्रम सर्प को पहले देखे बिना नहीं हो सकता, पहले साँप देखा होता, तभी रस्सी

---

१. Sri Aurobindo : The life Devine, Book 2, part 1 Chap. 5.

२. J. L. Austin—Sense and sensibilia, Oxford paper Bocks, 1982.

पर उसका आरोप होता है, और रस्सी यहाँ सत् होती है, साँप 'वहाँ' सत् होता है। इस पर बहुत लम्बा वाद-विवाद है और स्वयं शंकर ने भी इस आपत्ति पर विचार किया है।[1] किन्तु वास्तव में यह प्रश्न ही यहाँ प्रासंगिक नहीं है, प्रश्न वास्तव में यह है कि यदि यह मान भी लें कि भौतिक विषय संवेद-प्रदत्तों से हुई रचनायें हैं, अथवा, जगत् रस्सी में सर्प के या शुक्ति में रजत के आरोप के समान ही है, किन्तु तब प्रश्न यह होगा कि इस रचना-वृत्ति या अध्यास का हेतु क्या है ? यह हेतु, जिसे अनादि अविद्या या अनादि वासना कहा गया है, यह सत् है, या असत् है ? मैं स्वप्न में वस्तुओं को देखता हूँ। साधारण रूप में ये वस्तुयें असत् होती हैं। श्री अरविन्द ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इनमें एक असाधारण सत्य रहता है, जागृति, स्वप्न और निद्रा चैतन्य की मुक्तावस्था (तुरीयावस्था) के समान ही तीन अवस्थायें हैं और ये अपने-अपने स्तर पर अपनी-अपनी विधा के अनुसार सत्य को प्रकट करती है।[2] किन्तु इन्हें वासना-मूलक कहने से ये तब तक मिथ्या सिद्ध नहीं होतीं जब तक वासना ही असत् सिद्ध नहीं होती। पिछले अध्याय—मनुष्य और जगत्, में हमने यह देखा कि घट-पट आदि वस्तुएँ और उनके उपादान कारण सब प्रत्ययात्मक हैं, किन्तु इससे उन विषयों की असत्ता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि प्रत्यय और उसका आधार 'चैतन्य' यदि सत् हैं तो ये विषय-वस्तुएँ भी सत् हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि इस रचना-वृत्ति का क्या स्वरूप और स्थान है ? दूसरे शब्दों में, क्या चैतन्य ही विषय-वृत्तिक है और इस प्रकार जगद्-वासना अपना आधार स्वयं है, या कि विषय वृत्ति उसी प्रकार इतर और अध्यास है जिस प्रकार अहंकार है ? इसका एक उत्तर है कि है, यह आरोप है,[3] स्वरूप चैतन्य निर्विषय है। दूसरा उत्तर है कि यदि सविषयता चैतन्यमूलक नहीं है, तब सविषयता को कैसे समझा जायगा ? तब क्या यह असत् ही अपना आधार स्वयं नहीं हो जायेगा ?

स्वरूप चैतन्य को सविषय मानने में कठिनाई यह है कि उसे अपेक्षात्मक, दूसरे शब्दों में, स्वरूपतः अपूर्ण और आत्म-बहिष्कृत, मानना होगा। हम जगत् में इसी रूप में हैं, निरन्तर विषयाकृष्ट, जगद्मात्र को प्राप्त; पर यह चैतन्य का स्वरूप

---

१. शंकर : ब्रह्मसूत्र भाष्य, प्रथमाध्याय प्रथम पाद।

२. Sri Aurobindo—The life Devine.

३. वसुबन्धु—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः, त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्यम्:—'आत्मधर्मोपचारो हि : विधयो यः प्रवर्तते।'

है, ऐसा कहने का अर्थ होगा कि विभाग, अहंकार और अपूर्णता पारमार्थिक हैं; तब वास्तव में 'विभाग' और 'अहंकार' का भी कोई अर्थ नहीं होगा, क्योंकि ये दोनों शब्द आधार में अखण्डता और निरहंकारता को पूर्वकल्पित करते हैं और इस आधार से निरपेक्ष इनका कोई अर्थ नहीं बनता। इसके बिना चैतन्य में व्यष्टिता, दैशिकता और कालिकता को आत्यन्तिक और पारमार्थिक मानना होगा। पर ऐसा मानना अतर्कोचित ही नहीं, स्वयं हमारे अनुभव के विरुद्ध भी है, यह हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है।[१] मानव चैतन्य विकल्पात्मक और विवेकशील चैतन्य है। इस चैतन्य की यह विशेषता है कि यह साहंकार का अतिक्रमण करता है। काल में रहते हुए भी काल के ऊपर देखता है। देश में रहते हुए भी देश की सीमाओं का अतिक्रमण करता है। वास्तव में अहंकार का अतिक्रमण और देशकाल का अतिक्रमण यह एक ही बात का दो प्रकार से कथन है, पहला आत्म-पक्ष में और दूसरा जगत् पक्ष में। जगत्-पक्ष में काल का अतिक्रमण इन्द्रिय और अन्तःकरण के स्तर पर स्मृति के रूप में होता है, और बौद्धिक विषय स्वरूपतः ही देश और कालपरक नहीं होते हैं।[२] बर्गसां ने इस स्मृति को चित् और सत् के बीच व्यवधान के रूप में देखा है।[३] यह उसकी चित् और सत् विषयक ऐसी अवधारणा के कारण है जिसमें चित् विषय में अपने को खोने के द्वारा ही सत् का साक्षात्कार करता है। यह उसका दृष्टि-दोष है, क्योंकि इसमें चैतन्य आत्मबहिष्कृत और परतन्त्र रहता है। किन्तु बर्गसां ने मानव-स्मृति में जो काल का अतिक्रमण देखा है, उसमें उसकी सूझ महत्वपूर्ण है, यद्यपि नकारात्मक रूप से। (नकारात्मक रूप से इसलिए क्योंकि वह इस अतिक्रमण को व्यवधान या आरोप के रूप में देखता है।) इस प्रकार अतिक्रमण देश में भी बाधित होता है; जब कि हम विषय के देश में ग्रहण को सम्पूर्ण के एक पक्ष में विशेष का ग्रहण मानते हैं और इस प्रकार उसके शेष को इस पक्ष के अधिष्ठान के रूप में ग्रहण करते हैं। इन अतिक्रमणों में विषय पक्ष में अहंकार का अतिक्रमण होता हैं। किन्तु अहंकार का मौलिक-अतिक्रमण विषयी पक्ष में होता

---

१. वास्तव में अतर्कोचित होना कोई मूलगामी दोष नहीं है, क्योंकि तर्क ही औपाधिक और सापेक्ष होता है। इसलिये यह वहीं तक चिन्तनीय माना जाना चाहिए, जहाँ तक यह अपने से परे वस्तु-स्वरूप को संकेतिक कर सकता हो।

२. द्रष्टव्य, आगे, प्रत्यङ्मुख चैतन्य अध्याय।

३. Henri Bergson—Matter and Memory, George Allen and Unwin, 1911.

है। विषयी-पक्ष में अतिक्रमण की मौलिकता मनोविज्ञानिक नहीं होकर तात्त्विक और मूल्यात्मक है। मनोवैज्ञानिकरूप से वास्तव में विषयी-पक्षीय अतिक्रमण विषय-पक्षीय अतिक्रमण पर आश्रित होता है, जैसा कि कांट ने ठीक ही दिखाया है। उसके अनुसार दृष्टि की विषयगत एकता ही वास्तव में विषयीगत एकता को सम्भव करती है।[1] किन्तु विषयी पक्ष में अहंकार का अधिक आधारभूत और तात्त्विक अतिक्रमण विकल्पात्मक चैतन्य द्वारा अन्तरोन्मुख वृत्ति में अपने अन्तरोन्मुख आक्षेप के द्वारा होता है। फ़िख्ते के शब्दों में 'अन्तरोन्मुख क्रिया' (अस्मिता, विषयिता) विकल्पात्मक चैतन्य का स्वभाव है। अपने को आक्षिप्त करना (अपने बारे में मनन करना) इस क्रिया का एक कर्म है। यह विकल्पात्मक चैतन्य इस क्रिया के द्वारा अपने आपका आक्षेप करता है। सब मनन किसी का विषय के रूप में ही मनन करता है। अब, मनन के इस विषय को किस प्रकार का विषय होना चाहिए? इस मनन में विकल्पात्मक सत्त्व अपने को विषय के रूप में आक्षिप्त करता है, वह अपना स्वयं विषय होता है, किन्तु इस विषय का स्वरूप स्वयं अन्तरोन्मुख क्रिया-प्रवृत्ति होता है। इस प्रकार अन्तरोन्मुख क्रिया के अन्तिम उच्चतम विषय को स्वयं भी अन्तरोन्मुख क्रिया ही होना चाहिये।[2] किन्तु विषय रूप में यह आक्षेप उस अवस्था में केवल अहंकार का ही तात्त्विक प्रतिष्ठापन होगा, यदि वह क्रिया इस आक्षेप में आक्षिप्त से ऊपर अपना निर्विषय रूप में ग्रहण नहीं करे। उपर्युक्त उद्धरण के अन्तिम वाक्य में यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है जैसे फिख्ते इसी अहंकारातिक्रमण की बात कर रहा हो, किन्तु वह वास्तव में वैसा नहीं कर रहा है। क्योंकि आगे वह इसी क्रिया द्वारा अन्य व्यक्तियों और विषयों को भी आक्षिप्त देखता है।[3] किन्तु जैसा कि हमने पीछे देखा है, अपने अन्तरोन्मुख अतिक्रमण में अहंकार का भी अतिक्रण अपेक्षित होता है। वास्तव में वैदान्तिक ब्रह्म और बौद्ध शून्य की अवधारणाओं में तो यह दृष्टि पूर्णतः स्पष्ट ही है, ईश्वर की अवधारणा में भी मूलतः यही दृष्टि है, क्योंकि भगवान् को भक्ति के विषय के रूप में कल्पित किया जाता है, जिसके सामने भक्त अपने को नितान्त अकिंचन अनुभव करता हुआ उसमें भाव की तन्मयता प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार, सविषयता चैतन्य का न स्वरूप है, और न यह अपना आधार ही है।

---

१. Kant—Critique of pure Reason, A 105, 109; B 137.

२. J. G. Fichte—The Science of Rights. P. 31-33; Routledge and Kegan paul, 1889.

३. वही, पृ० ३२-३३।

वास्तव में सविषयता की निराधारता इस अतिक्रमण से ही नहीं, उसके अपने अन्तर्गत स्वरूप से भी सिद्ध है, यद्यपि इसके इस स्वरूप का उद्घाटन इस अतिक्रमण से ही होता है। जैसा कि हमने उपर देखा, अहंकार विषय और विषयी की सीमितता का ही नामान्तर है। यह सीमितता ज्ञान और मूल्य में भ्रम की हेतु होती है; हम रस्सी में साँप देखते हैं और इसी प्रकार उन वस्तुओं में सन्तोषप्रदता देखते हैं, जिनमें कोई सन्तोषप्रदता नहीं होती। यद्यपि रस्सी की उपलब्धि से सर्प-भ्रम का निवारण हो जाता है, किन्तु इस भ्रम के हेतु की विद्यमानता साहंकार ग्रहण में मौलिक है, क्योंकि प्रत्यक्ष विषय की ग्राहकता अपने ग्राह्य की तुलना में अत्यधिक संकुचित होती है, और परिणामतः यह नहीं कहा जा सकता है कि उपलब्ध रज्जु भी भ्रममूलक नहीं है। इसी प्रकार हम उपलब्ध वस्तु में संतोषप्रदता का अभाव पाकर दूसरी अनुपलब्ध वस्तुओं का अन्वेषण करते हैं, किन्तु उन्हें पाकर पुनः देखते हैं कि इनमें भी संतोषप्रदता नहीं थी, और तब और दूसी वस्तुओं की आकांक्षा करते हैं. यह तथ्य आहंकारिक अन्वेषणों की मौलिक भ्रमात्मकता का द्योतक है। भ्रम असत् है, किन्तु भ्रम में क्या है जो असत् है ? सर्प या सर्प-ग्रहण ? इसी प्रकार मूल्यान्वेण में क्या असत् है ? संतोषप्रद वस्तु या कि सन्तोष की अभिलाषा ? अन्वेषण के स्वरूप पर विचार करने पर हम पाते हैं कि अन्वेषण में भ्रम अन्वेषण के अपने भीतर निहित है, क्योंकि इसका मूल अन्वेषक की अपूर्णता में में है। पूर्ण में न तो खोज हो सकती है और न संतोषजनक वस्तुविषयक भ्रम ही हो सकता है। इसीसे यह अन्वेषण सब उपलब्धियों को अन्त में व्यर्थ पाता है। वास्तव में संतोषप्रदता के भाव और अभाव दोनों का अधिष्ठान असंतोष में है, जो चैतन्य में अभाव का द्योतक है। किन्तु अभाव की विद्यमानता अर्थात् भाव वदतोव्याघात है। इसी प्रकार ज्ञानात्मक भ्रम के सम्बन्ध में भी मानना चाहिए, रज्जु में अध्यस्त सर्प सत् नहीं है। किन्तु अधिष्ठान रज्जु और अध्यस्त सर्प में स्वरूपतः कोई भी भेद नहीं है। फलतः यह कहा जायेगा कि एक का अस्तित्व है और दूसरे का नहीं है, यही भेद है। किन्तु कांट ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि 'अस्तित्व' विधेय नहीं है, अर्थात् अस्तित्व नामक कोई गुण नहीं है, यह केवल ऐन्द्रिय सवेदों में वस्तु का आरोप है।[1] किन्तु यह आरोप तो रज्जु और सर्प में समान है। तब एक भ्रम और दूसरा सत्य किस आधार पर है ? इसका आधार कालान्तर में बाधितता-अबाधितता हैं। अब यदि यह मान भी लें कि रज्जु सत् है और सर्प असत्, तो भी बाधितता की संभावना उतनी ही रज्जु में भी है

१. Kant—Critique of Pure Reason; A 593-596-B k21, 623.

जितनी सर्प में। वास्तव में सर्प का अध्यास ही रज्जु को बाधित करके होता है, जिस प्रकार रज्जु का 'प्रकाश' सर्प को बाधित कर के होता है। इस प्रकार रज्जु और सर्प दोनों ग्रहण में समान हैं। इस प्रकार मूल्य और ज्ञानमूल्य दोनों प्रकार के असत्त्व वास्तव में चैतन्य मूलक असत्त्व हैं, न कि विषयमूलक। सत् और असत् को परिभाषित करते हुये फिख्ते कहता है 'जो कुछ, अपने आप में और अपने ही द्वारा है, वही वास्तव में है, और पूर्ण है—सदा और सब प्रकार से अस्तित्वमय, बाधा रहित और किसी भी प्रकार की वृद्धि-ह्रास की सम्भावना से रहित।[1] किन्तु अज्ञान या भ्रम जगत् में है, बल्कि कहें यही जगत् में हैं, और परिणामतः जगत् और वह वासना, जो इसकी मूल है, भ्रम और असत् हैं। किन्तु 'असत् है' इसका क्या अर्थ है? यह स्पष्टतः वदतो-व्याघात है; तब इसे कैसे समझा जाय?

इसका एक समाधान हो सकता है कि, आकांक्षा, वासना और अपूर्णता असत् नहीं हैं, वास्तव में अपूर्णता या भाव का निषेद्ध (अभाव)—यही चित् का भाव है, स्वरूप है; दूसरे शब्दों में, चित् भावाभाव है, भावमात्रता जड़ का लक्षण है, इसलिए अभाव असत् नहीं है, यह चित् का स्वरूप है।[2] और वास्तव में जिस प्रकार हम जीव रूप में हैं, उसका यही सही निरूपण है। हम हैं और हमारे अस्तित्व का यह स्वरूप है कि हम अपूर्ण हैं, किन्तु इस अपूर्णता या भावाभाव के सम्बन्ध में एक अत्यन्त विस्मयजनक बात यह है कि यह अपूर्णता पूर्णन के लिए व्याकुलता से युक्त है, यह एक नितान्त अगम्य-अबूझ परिस्थिति है कि अपूर्णता केवल तर्कतः ही पूर्णता की अपेक्षी नहीं है, बल्कि वास्तव में है; वास्तव में वासना का यह भी लक्षण कहा जा सकता है कि यह पूर्णता केलिए व्याकुल अपूर्णता है। यह भी कहा जा सकता है कि इस व्याकुल अपूर्णता के सिवाय और कोई अपूर्णता है ही नहीं : यह घट अपूर्ण है क्योंकि यह पट और पुस्तक में अविद्यमान है। किन्तु यह अपूर्णता वास्तविक नहीं है, यह केवल द्रष्टा के भेद ग्रह की अपेक्षा से है, नहीं तो अपने उपादान में दोनों अभिन्न हैं। इस प्रकार सार्त्र का यह कथन एक प्रकार से सही है कि केवल जड़ पूर्ण है, और द्रष्टा का भेद-ग्रह उसकी अपनी अपूर्णता का कारण है। किन्तु यह निरूपण केवल अंशतः ही सही है, क्योंकि चेतना में अपूर्णता की अनुभूति है और इस प्रकार पूर्णता केलिए व्याकुलता ज्ञानात्मक

---

१. Popular Writing, P, 393; Tubner and Co., London.

२. यहाँ सार्त्र की Being and Nothingness का उल्लेख उपयोगी होगा। वह स्वरूपगत पूर्णता केवल जड़तत्त्व (Being-in-itself) की ही मानता है और चैतन्य (Being for-itself) को अभाव से परिभाषित करता है।

के अतिरिक्त मनोदैहिक प्रकार की भी है; किन्तु जबकि दैहिक अपूर्णता में पूर्णन के लिए स्वभावतः व्याकुलता है और जीव में मौलिक भव्यता का प्रकार मुख्यतः यही है, तब उसमें ज्ञानात्मक अपूर्णता भी है। किन्तु इस अपूर्णता से सर्वत्र पूर्णन की व्याकुलता नहीं है। यह केवल उस जीव के स्तर पर ही है, जो ज्ञान को भी जानता है, जो ज्ञान में अंतरोन्मुख भी है। किन्तु ज्ञान की अपूर्णता का ज्ञान मनोदैहिक अपूर्णता के अनुभव से इस बात में मौलिक रूप से भिन्न है कि प्रथम इस अपूर्णता का अतिक्रमण भी करता है; यद्यपि वह पूर्णता का ग्रहण भी करता है या कर सकता है, यह नहीं जा सकता। मनोदैहिक अपूर्णता में पूर्णता के लिये व्याकुलता है, किन्तु इसमें इसका अतिक्रमण नहीं है, यद्यपि अपूर्णता की पूर्ति है; इसके विपरीत अन्तरोन्मुख चैतन्य में अपना अतिक्रमण इसका स्वरूप-लक्षण है, और वास्तव में यह अतिक्रमण ही मूल्य और ज्ञान के स्तर पर भ्रम का और उसके निवारण का आधार होता है, क्योंकि इस अतिक्रमण के द्वारा ही वह विषय पक्ष में अपनी अपूर्णता को प्रकाशित करता है। इस प्रकार अभाव, वासना या अपेक्षा को चैतन्य का स्वरूप नहीं कहा जा सकता, ये चैतन्य में स्वरूपगत पूर्णता की अपेक्षा से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार जगत् चैतन्य अभाव-व्यवहित भाव है, किन्तु यह पूर्ण भाव में प्रतिष्ठित है। अभाव से व्यवहित होना इस पूर्ण की चैतन्य-स्वरूपता का लक्षण है। इस व्यवधान के बिना भाव जड़ है, जैसे भौतिक द्रव्य। क्योंकि, यह पत्थर और यह जल अपनी भौतिकता में अखंड भाव में प्रतिष्ठित हैं, अपने आप में यह भूत द्रव्य न उद्देश्य है और न विधेय, यह उद्देश्य-विधेयता से अस्पृश्य भाव मानता है।

इसके विपरीत विश्लेषणात्मक प्रज्ञप्ति उद्देश्य-विधेय में विभक्त अखंड भाव है। यही शुद्ध चैतन्य के आत्म व्यवहित का स्वरूप है। इसका अर्थ यह नहीं हैं कि कोई चैतन्य अशुद्ध भी है। चैतन्य का अप्रत्यङ्मुख भाव ही उसका अशुद्ध भाव है, जिसमें वह इस आत्मकृत व्यवधान को वास्तविक रूप में ग्रहण कर उसमें आत्मविस्मृत रहता है। उसका मनोदैहिक स्तर इसी आत्म-विस्मृति का स्तर है। किन्तु जब वह इस स्तर के अस्तित्व या भाव का आत्मस्मृति में मनन करता है, तब वह अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है।[1] यह उसका आत्म-व्यवहित पूर्णभाव है। जहाँ तक जड़

---

१. श्री अरविन्द ने **दि लाइफ डिवाइन** के उपर्युक्त अध्याय में जिसका शीर्षक है—"दि कॉस्मिक इल्यूजन, माइंड, ड्रीम एंड हैल्यूसीनेशन' स्वप्न की व्याख्या करते हुए कहा है कि शंकर आदि ने जो अविद्या की उपमा स्वप्न और विभ्रम से दी है वह उपयुक्त नहीं है, और उन्होंने कहा है कि स्वप्न और

तत्त्व का प्रश्न है, वह वास्तव में कोई भाव नहीं है, उसका निर्देश केवल चैतन्य के आत्मव्यवहित-अव्यवहितत्व, अथवा कहें उत्क्रमित व्यवहितत्व, की अनुपस्थित के द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकार वास्तव में यह चैतन्य का अपेक्षी भाव है।

विभ्रम चेतना के सत् के साथ संपर्क के जागृति के भिन्न माध्यम या करण हैं। किन्तु यदि यह मान भी लें तो इन्हें केवल गुह्य संकेतों के रूप में ही माध्यम कहा जा सकता है, जिन्हें कि स्वप्नगत चेतना स्वयं नहीं ग्रहण करती। स्वप्नगत चेतना अपने प्रस्तुत विषयों की सत्यता में आस्था के साथ व्यवहार करती है, जिस आस्था का जागृत में बाध होता है। शंकर आदि ने इसी आस्था की ओर संकेत कर जागृति-गत चेतना की आस्था को अविद्यामूलक कहा है।

कला-सर्जन

कला सर्जन के अनेक प्रकारों में से एक है, यद्यपि बहुत बार एकमात्र कला को ही सृजनात्मक कर्म मान लिया जाता है। 'सर्जन' का एक व्यापक अर्थ हो सकता है, जिसके अनुसार चित् का विषयोन्मुख प्रवर्तन मात्र सर्जन है, और विषयोन्मुख प्रवर्तन चित् द्वारा सत् में अपने प्रयोजन का निरूपण है। किन्तु इसका संकुचित अर्थ भी हो सकता है, जिसके अनुसार प्रयोजन के केवल आत्म-बोध-पूर्वक निरूपण को ही सर्जन कहा जा सकता है। इनमें दूसरा अर्थ स्वीकार करने पर न केवल मानव-चेतना का अध्यवसायात्मक प्रवर्तन ही, जिसे अधिकांश दर्शन सम्प्रदाय अनादि वासना-'विकल्प' कहते हैं, अतिक्रामी होने के कारण सर्जन के क्षेत्र से बाहर हो जायगा, बल्कि स्वप्न, जो आत्म-बोध-रहित प्रवर्तन है, और क्रीड़ावश बालक द्वारा रेतीले घरोंदो का निर्माण, जो आत्मबोधरहित और निष्प्रयोजन प्रवर्तन है, भी इसके क्षेत्र के बाहर हो जायेंगे। किन्तु पहला अर्थ स्वीकार करने पर पाशव प्रवृत्ति भी सर्जन के क्षेत्र में सम्मिलित हो जायेगी। इतना होने पर भी सम्भवतः इनमें से व्यापकतर अर्थ ही अधिक युक्त है, क्योंकि अध्यवसाय, स्वप्न और क्रीड़ा से सर्जन के क्षेत्र से बाहर कर देने पर न केवल सर्जन का अर्थ ही क्षीण हो जाता है, बल्कि इन तीन अभिनिवेशों का स्वरूप भी अग्राह्य हो जाता है। किन्तु 'सर्जन' में 'पाशव क्रिया' का समावेश उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वह या तो आवेगात्मक उद्वेलन होता है अथवा बाह्यतः नियोजित प्रवर्तन—कम से कम ऐसा हम उसे समझते हैं। सर्जन के लिए चित् का स्वातन्त्र्य, स्वतःजात स्फुरण, और उसके द्वारा सत् में रूप अथवा तन्त्र का उत्कीर्णन, ये दो तत्त्व होना अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में, सर्जन चित् द्वारा सत् में स्वातन्त्र्य का निरूपण है। सत् को चित् से पृथक् कहने का अर्थ नहीं है कि यह द्वैत पारमार्थिक है, बल्कि यह कहना अधिक समीचन है कि सत् और चित् का द्वैत स्वयं चित् के ही अतिक्रामी[1] प्रवर्तन का आक्षेप है, आद्यभाव (प्राइमोर्डियल बीग) इस

[1]. 'अतिक्रामी' का अर्थ है जो व्यक्ति के ज्ञान या इच्छा के अधीन नहीं होकर इनसे तत्त्वतः प्राक् है।

द्वैत के रहित है। सम्भवतः इस आद्यभाव की आत्यतिक अनुद्भिन्नता को प्रगट करने के लिये तैत्तिरीय उपनिषद् ने इसे असत् कहा है[1], और ऋग्वेद में इसे असत् और सत् से प्राक् कहा गया है।[2] सर्जन में चित् का स्फुरण और द्वैत का आविर्भाव, यह युगपत् होना अनिवार्य है। किन्तु द्वैत के आविर्भाव के साथ ही स्वान्तत्र्य प्रतिबन्धित हो जाता है और जितना ही सत् चित् से पृथक् अपनी स्थिति बना लेता है चित् के लिए उसमें आत्म निरूपण उतना ही प्रयत्न साध्य हो जाता है। वास्तव में चित् और सत् का यह द्वैत मानवीय चेतना में ही स्फुट होता है और इस चेतना में पृथक्भूत सत् की बाधा स्वप्न में न्यूनतम होती है, क्योंकि इसमें सत् भौतिक नहीं होकर तान्मात्रिक होता है। उससे कुछ अधिक, किन्तु तब भी अत्यन्त न्यून, बाधा पौराणिक मनस् और क्रीड़ारत बाल-मनस् में होती है, क्योंकि इन दोनों में भी सत् का भौतिक पक्ष : उसके देश काल के नियम, रूपरेखाओं की सम्यक्ता और सन्तुलन की अपेक्षाएँ : उपेक्षित रहती है और आन्तर प्रेरणामूलक साक्षात्कार से नियंत्रित होती है। किन्तु द्वैत की सृष्टि, प्रतिबिम्बन अथवा प्रत्यंकन के लिए इतर का आक्षेप और उसका आत्मानुरूप रूपान्तरण, यह सर्जन का मूल है जो मानवीय चेतना के उपर्युक्त सभी प्रवर्तनों में मिलता है। इन सब में निरवयव और निराकार प्रकाश विमर्श रूप में उद्भिन्न होकर विविध और विपुल बनता है।

ईश्वरीय सृष्टि के सम्बन्ध में समझा जाता है कि वह पूर्णतः निर्बाध है, जिसका अर्थ है कि उसमें सृजन-वासना, कल्पना और क्रियान्वयन तीनों एकान्वित रहते हैं। ऐसी अवस्था में ईश्वरीय सर्जन सर्जन की उपर्युक्त परिभाषा की पूर्ति नहीं करता। इसी कारण पाशव निर्माण भी सर्जन नहीं है, क्योंकि उसमें चित् विषय से तादात्म और इस प्रकार स्वातन्त्र्य-रहित रहता है। इनसे भिन्न मानवस्तरीय चित् विषयी-विषय-रूप द्वित्व में विभक्त होकर विषयी-पक्ष में अपने तंत्र का विकास करता है और उसके माध्यम से विषय पक्ष का ग्रहण करता है। भाषा आदि प्रतीक रचनायें विषयी के विषय-ग्रहणमूलक इस आत्मतन्त्र के ही रूप हैं। मनुष्य के ज्ञान को व्यवहित कहने का भी यही औचित्य है। विषय-ग्रहणात्मक विषयिमूलक तन्त्र चित् के स्वतन्त्र सर्जन होते हैं, किन्तु सृष्टि होने के साथ ही ये विषय (सत्) रूप में उसके नियामक हो जाते हैं। उदाहरण के लिए भाषा चित् की स्वतन्त्र सृष्टि है, जो उसके द्वारा विषयावधारण के तन्त्र के रूप में उत्सृष्ट होती है, किन्तु अपनी सृष्टि के साथ

---

१. 'असद् वा इदमग्र आसीत्, ततो सदजायत।' छान्दोग्य—२, ७।

२. 'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्।' ऋग्वेद संहिता, ८.७.१७।

ही यह मानव-चित् को उस सीमा तक अपनी रचना की व्यवस्था से उपहित कर देती है, जिस सीमा तक वह उसके तन्त्र को अपनी सृजन-वासना की अभिव्यक्ति से पृथक् अस्तित्व दे देती है। भाषा के इस स्वरूप में कारण ही बौद्ध और वेदान्ती दार्शनिक भाषा को विक्षेप और परमार्थ को अनभिलाप्य कहते हैं। यही बात अन्य प्रतीक-रचनाओं, जैसे विज्ञान, नीति, धर्म-कला आदि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। ये सब चित् के स्वतन्त्र प्रवर्तन के आयाम हैं, जो उसके आत्म-निरूपण के क्रम में उद्-भूत होते रहते हैं, और इस रूप में देखे जाने पर इन्हें चैतन्य में निमीलित वैभव का उन्मीलन कहा जा सकता है। उपनिषद् में सृष्टि का तत्त्व आनन्द को कहने का यही औचित्य हो सकता हैं।[1] किन्तु ये ही विषय रूप में चित् से पृथक् साध्य बन कर उसकी उपाधि और पारतन्त्र्य बनते हैं। चित् के ये सब निरूपण प्रेक्षणात्मक होते हैं, इनमें चित् आत्मनिरूपण के लिये प्रेक्षक विषयी और प्रेक्ष्य-विषय के रूप में उद्भिन्न होता है। इस उद्भिन्नता में जब उसकी वृत्ति विषयोन्मुख (विषय-तन्त्र) होती है तब वह रचनात्मक होने पर भी सर्जनात्मक नहीं होता। किन्तु जब वह विषय को स्थगित कर अपने में अपना विमर्श करता है, तब वह विषय को स्वतन्त्र्य के चरितार्थन के लिए साधन बनाता है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह विमर्श केवल विषयि-विषय-रूप में उद्भिन्न चित् के लिए ही संभव है, क्योंकि केवल इस प्रकार उद्भिन्न चित् ही विषय-पक्ष के स्थगन के द्वारा विषयी-रूप में आत्म-विमर्श कर सकता है। विज्ञान, उपयोगात्मक निर्माण और लोक व्यवहार साधारणतः विषया-धीन रचनात्मकता के वर्ग में रखे जा सकते हैं और नीति तथा कलाएँ आत्मविमर्श के वर्ग में। दर्शन की स्थिति उभयतः रहती है, क्योंकि यह एक और बौद्धिक प्रत्ययों का विषयनिष्ठ विवेचन करता है, किन्तु दूसरी ओर ये प्रत्यय विषयोन्मुख नहीं होकर प्रत्यङ्मुख होते हैं।[2] किन्तु तब भी दर्शन का विमृश्य विषयी नहीं होकर तटस्थ प्रत्यय ही होता है, जो अपने ताटस्थ्य में विषयवत् ही होता है। कला और नीति दोनों के विषयिमूलक होने पर भी इनमें गंभीर अन्तर है : यह अन्तर इसके विमृश्य के स्वरूप में निहित है कला का विमृश्य भावनात्मक विषयी द्वारा अपनी विषयिमूलक भावना ही होती है, जबकि नीति का विमृश्य कर्म-प्रवृत्ति की विषयिता का तत्त्व होता है। भावना स्वरूपतः विषयिनिष्ठ और विशिष्ट होती है, किन्तु ज्ञान-

---

१. "यद्वै तत्सुकृतं, रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति।" तैत्तिरीय, वल्ली—२ अनुवाक ७। "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।" वही वल्ली ३। अनुवाक ६।

२. द्रष्टव्य आगे—'दर्शन का आरम्भ-बिन्दु' अध्याय।

ग्राह्य होने के लिए इसका विषयकरण और सामान्यीकरण अनिवार्य होता है, किन्तु तब यह मनोविज्ञान के लिए विमृश्य होती है। किन्तु कला भावना के विषयिनिष्ठ रूप में ही उसे अहंकारोपाधि से मुक्त कर प्रेक्षण के लिए उपलब्ध करती है। उचित रूप से कहें तो, व्यक्ति-मूलक विषयिगत भावना का व्यक्ति मुक्त विषयिगत भावना के रूप में उपयोग और इस भोगित्व का आत्म-विमर्श ही कलात्मक विमर्श है। इसका व्यक्ति-मुक्त (अहंकारोपाधिमुक्त) होना इसके प्रेक्ष्य होने की अनिवार्य पूर्वापेक्षा है, और प्रेक्ष्य का भोगित्वमूलक होना इसकी रसात्मकता की।[1] इस प्रकार यह कला की ही विशेषता है कि इसमें व्यक्ति-विषयिनिष्ठ भाव विषयरूप में विजड़ित हुए बिना अहंकारोपाधि से मुक्त हो पाता है। इसके विपरीत कर्म-प्रवृत्ति में चित् मूलतः ही निर्वैयक्तिक होता है,[2] यद्यपि विमृश्य विषयिनिष्ठ प्रवृत्ति ही होती है[3]।

कला-सर्जन कला-बोधपूर्वक होता है, जिसका अर्थ है कि भाव-विमर्शोन्मुख चैतन्य आत्म-निरूपण, अथवा कहें आत्म-क्रियान्वयन, के क्रम में किसी उपादान को उत्कीर्ण कर उसे आविष्ट करता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे[4] विमर्श चित् का बौद्धिक आकार में उन्मीलन है। अब यह अनिवार्य वस्तु स्थिति है कि कोई उन्मीलन इस आकार तक सीमित नहीं रहता : जाग्रदवस्था में चित् का उन्मीलन महाभूत-पर्यन्त विकसित होता है और स्वप्न में तन्मात्र पर्यन्त। परिणामतः कलात्मक विमर्श भी

---

१. तुलना के लिए द्रष्टव्य—'तथा च मधुरादौ रसे औदारिकाभ्यवहार वैलक्षण्येन प्रवृत्त इदमित्थमिति प्रमातरि विश्वमयप्रमातृ-भागमेव प्रधानतया विमृशन् भुञ्जान इत्युच्यते " तत्रवीत विघ्नत्वादेवासो रसना, चर्वणा निर्वृत्तिः प्रतीतिः प्रमातृ विश्रान्तिरव, तत एवं हृदयेन परामर्श-लक्षणेन प्राधान्यद्-व्यपदेश्यावस्थितस्यापि प्रकाशभागस्य वेद्यविश्रान्तस्यानादरणात्सहृदयतोच्यते : ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका पर उत्पल की विवृति, भाग—२ पृ० १७८।

२. तुलनीय—Kant. "Act as if the maxim of your action were to become through your will a universal law of nature." *Groundwork of the Metaphysics of Morals.* Translation. H. J. Paton; P. 89; Harper Torch Books.

३. द्रष्टव्य-सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु, प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः (कालिदासः अभिज्ञान शांकुतलम्, प्रथमांक, श्लोक २।

४. दर्शन का आरम्भ बिन्दु।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि में से किसी उपादान का उपयोग अपने क्रियान्वयन के क्रम में करता है। विमर्श का इन उपादानों में निरूपण ही सर्जन है।

विमर्श में चित् का उन्मीलन दो स्रोतों से होता है, बाह्योद्दीपन से, और स्वतः। आद्य (प्राइमोर्डियल) उन्मीलन स्वतः ही है, जो आद्य अनुद्भिन्न चित् में अस्मिता और जगत् : अस्मत् युष्मत् इस प्रत्यय-युगल के रूप में प्रस्फुटित होता है। ग्राह्य ग्राहक, अथवा उद्दीपक-उद्दीप्य के द्वैत का मूल इसी स्वतोद्भव में है। किन्तु द्वितीय स्तरीय उन्मीलन (मानव-स्तरीय विमर्श) में भी अनेक बार विमर्श का स्रोत अनुद्दीप्त या स्वतन्त्र चित् में ही होता है। दर्शन और कला में ऐसा बहुधा होता है। महान् रचनाएँ इसी स्तर के विमर्शों की फल होती हैं। किन्तु उन्मीलन का स्रोत चाहे जो भी हो, उसकी अभिव्यक्ति, दूसरे शब्दों में उपादान में अवतरण, सदैव न्यूनाधिक दुस्साध्य और औपाधिक ही होता है। इसका कारण है : हम स्वयं चित् का ग्रहण उसके तान्मात्रिक या भौतिक स्तर पर अवतीर्ण होने पर ही करते हैं, अधिकांश में भाषा के रूप में, अथवा वर्ण-योजना, स्वर-ग्राम आदि के रूप में। किन्तु स्वयं न तो पद या वाक्य-रूप में स्फुटित अर्थ तान्मात्रिक या भौतिक हैं, और न ध्वनियों के लय, ताल और आरोहावरोह की व्यवस्था अथवा रेखाओं के भंग तथा वर्णों की योजना तान्मात्रिक या भौतिक है, यद्यपि भौतिक उपादानों में अवतीर्ण हुए बिना ये अर्थ स्वयं वक्ता, गायक और चित्रकार को भी विदित नहीं होते। किन्तु भौतिक उपादान में इनका प्रवाह रुद्ध हो जाता है और इनका आशय व्यामिश्रित और खंडित हो जाता है। सर्जन इस मूल आशय में पुनः प्रवेश कर विमर्श और उपादान में उसे अविकृत और अमिश्र रूप में धारण करने की साधना है। इसके लिए कलाकार को स्वयं उपादान को चिन्मय बनाने का प्रयत्न करना होता है, जिससे चित् अधिकाधिक निर्बाध रूप में प्रकट हो सके। यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि उपादान चित् से पृथक् या इतर नहीं है, यह उसके उन्मीलन के क्रम में ही आविर्भूत होता है—इससे भिन्न इसका स्वरूप अनवधार्य है। किन्तु तब भी इसमें एक दूरी है, जो क्रम को उत्पन्न करती है। इसे देह में मस्तिष्क और केश में अन्तर की उपमा से समझा जा सकता है, जो समान रूप से भौतिक होने पर भी चित् के उन्मूलन के निकट-दूर हैं। कुछ व्यक्तियों में विमर्श अधिक सप्राण होता है और अभिव्यक्ति अधिक सहज, जो उनमें भौतिक मनस् के समीपतर और मनस् के चित् के समीपतर होने का द्योतक होता है, इसके विपरीत स्थिति तो अधिकांशतः ही हम पाते हैं—केंचुए-कछुए में यदि देह-भाव का प्राधान्य है, तो सिंह-हरिण आदि में प्राणभाव का, गाय-अश्व आदि में ऐन्द्रिक भाव का, और बन्दर आदि में ऐन्द्रिक और मनस्-भाव का प्राधान्य है। मनुष्य में भी व्यक्तिभेद से ये क्रम

देखे जा सकते हैं। देहेन्द्रिय-प्रधान व्यक्तियों में जबकि सृजन अलभ्य होता है, चित् के समीपतर में यह सहज। मीरा, सूर, कबीर, में भाषा अलंकार और छन्द अभिव्यक्ति के लिए सहज माध्यम बनते हैं, तो इसके विपरीत रीति-काव्य के कवियों में ये स्वयं ही साध्य बनते हैं, उससे हमारे इस प्रतिपादन की सत्यता देखी जा सकती है।

× × ×

ऊपर हमने कला को भावना का तत्परक विमर्श (भावना का आत्मविमर्श भावनात्मक-आत्मविमर्श) इस प्रकार परिभाषित किया है। हम ऐन्द्रिक ग्रहणों और तन्मूलक विमर्श को क्रमशः सत्य और उसके परामर्श का आदर्श मानने के लिए इतने अभ्यस्त हैं कि ग्रहण और अवधारण की अन्य विधाओं को उनके सही रूप में समझ ही नहीं पाते। इसीसे कला को उच्छ्वास, और पुंजीभूत उद्वेग-ऊर्जा के व्यय के साधन के रूप में ही अधिकांशतः देखा गया है।[1] अवश्य कुछ लोगों ने उसे द्रष्दृभाव के रूप में भी देखा है, किन्तु वह एक दूसरी भ्रांति है; किसी विचार-वितर्क के आधार के बिना तो वह है ही। यह मानना नितान्त भ्रमपूर्ण है कि कवि कलाकार किन्हीं अलौकिक तत्त्वों का उस अर्थ में दर्शन करता है, जिस अर्थ में हम घट-पट आदि गोचर वस्तुओं का करते हैं। कला ग्रहण की सब अध्यवसायात्मक विधाओं से नितान्त भिन्न है, और यह भिन्नता इस बात में है कि अध्यवसायात्मक विधाओं में चित् की वृत्ति निर्धारण-विश्लेषण-परक रहती है, जब कि कला में वह ग्राह्य-गत के गठन, संतुलन, लय और छन्द से तादात्म्य-स्थापन का प्रयत्न करती है। प्रथम वृत्ति यदि विषयोन्मुख है, तो दूसरी विषयिगत (भावमूलक)। 'विषयिगत' वृत्ति 'आत्मोन्मुख' वृत्ति से भिन्न है, 'आत्मोन्मुख' और 'विषयोन्मुख' में 'उन्मुखता' समान है, किन्तु विषयिगत या भाव-मूलक वृत्ति में कोई उन्मुखता नहीं होती, अथवा कहें उसमें उन्मुखता व्यंजक या सांकेतिक, अथवा अवान्तर, होती है, मौलिक नहीं होती। किन्तु तब भी विमर्श इसका उसी प्रकार आत्मा है, जिस प्रकार अध्यवसायात्मक वृत्ति का। जैसाकि हमने पीछे कहा है, विमर्श निरवयव चित् में सावयवता का आविर्भाव है, अथवा यों भी कह सकते हैं कि यह अस्फुट सावयवता का प्रस्फुटन है। विषयोन्मुखवृत्ति की विमर्शात्मकता प्रायः सभी अध्यात्मवादी दर्शनों में देखी जा सकती है, किन्तु विषयिगत वृत्ति की विमर्शात्मकता का विचार किसी ने सम्यक् रूप से नहीं किया। अभिनवगुप्त इस विचार से निकटतम पहुँचे हैं और वे वास्तव में इस प्रसंग में 'विमर्श' शब्द का ही प्रयोग करते हैं, और चित् (शिव) तत्त्व को प्रकाश और विमर्शात्मक कहने और जगत् को चित् का विमर्श कहने में उनका पूर्णतः वही आशय है जो हमारा है, किन्तु तब भी वे रस-विवेचन में

---

१. वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान। (सुमित्रानन्दन पन्त)

ठीक वही बात नहीं कहते, जो हम कहना चाहते हैं, और जो सही प्रतीत होती है। हमारे विचार के अनुसार विमर्श चित् का बुद्धिमूलक प्रस्फुटन है। स्वयं व्यक्ति का अपना आविर्भाव अतिक्रामी चित् के युष्मत्-व्यवहित-अस्मत् के रूप में विमर्श का परिणाम है।

'यह घट है, अध्यवसाय में एक प्रत्यक्षगत स्थिति 'यह-घट-है' में, और इन तीनों पदों की पृथक्-पृथक् और संयुक्त व्यावृत्तियों में उद्भिन्न होती है, यही विमर्श है। यही विमर्श-वृत्ति भाव में निमीलित विमृश्य को ध्वनि के उपादान में स्वरग्राम, लय, यति और भंग के रूप में उत्कीर्ण कर उसमें राग का सर्जन करती है। इस प्रकार राग भावना का आत्म-निरूपण है, जो भाषायी निरूपण से मूलतः भिन्न प्रकार का है। काव्य में भाषा का प्रयोग होता है, किन्तु यहाँ उसका कथन-व्यापार, दूसरे शब्दों में भाषा व्यापार, स्थगित हो जाता है और वह वस्तु-वाचक से भाव-विमर्शक हो जाता है। इस विमर्श में अभिधान सम्भव नहीं होता, वह होने पर भाव वस्तु में रूपान्तरित हो जाता है, जैसे मनोविज्ञान में; इसमें भाव अनिर्देश्य विषयिता में ही अपने निरूपण की माँग करता है। उदाहरण के लिए महादेवी की निम्न पंक्तियाँ लें—

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी।
तारकमय नव वेणी बन्धन, शीश-फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि वलय शित घन-अवगुंठन
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे, चितवन से अपनी।

इसमें रात्रि का वर्णन नहीं है, इसमें रात्रि-दर्शन से भाव-लोक में उन्मिषित अलक्ष्य-अवाच्य बोध का साक्षात्कारी विमर्श है। इसके पद और वाक्य इस बोध का कथन नहीं करते बल्कि इसके विकसन के माध्यम बनते हैं। यह जितना कविता के लिए सही है उतना ही उपन्यास के लिए भी सही है। उपन्यास प्रकटतः वृत्त कहलाता है, किन्तु सम्पूर्ण उपन्यास भावलोक की यात्रा होता है और परिणामस्वरूप उसके प्रकटतः कथनात्मक वाक्य इस भाव के उन्मेष के माध्यम होते हैं। यह उसका 'वृत्त' होता है, जो लोक में कभी कहीं घटित नहीं हुआ होता और न जिसका घटित हुआ होना प्रासंगिक होता है, किन्तु तब भी वह या तो लोक में घटित घटनाओं को उद्भासित करता है अथवा अलौकिकतया निरूपित करता है। 'लोकोद्भासन' से तात्पर्य है, भाव-बोध में उन्मिषित बाह्य लोक में घटित घटना क्रम को, अथवा उसकी अनुरूपता में कल्पित घटना-क्रम को, सामान्य के उदाहरण के रूप में कहना, और 'अलौकिकतया निरूपण' का अर्थ है, भाव-लोक को विमर्शात्मक चैतन्य को अर्पित करना।

लोकोद्भासन और अलौकिकतया निरूपण, ये कला-सर्जन की दो पृथक् विधाएँ हैं। इसमें कथात्मक काव्य : उपन्यास, कहानी, नाटक, महाकाव्य आदि

मुख्यतया प्रथम विधा के और संगीत, गीत-काव्य तथा चित्रकला और मूर्तिकला की अधिकांश कृतियाँ दूसरी विधा के उदाहरण हैं। किन्तु प्रथम प्रकार की कला-कृतियाँ भी द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत संगृहीत की जा सकती हैं, क्योंकि कला का मर्म इस दूसरे रूप में ही हैं। यहाँ प्रथम प्रकार की कला-कृति के उदाहरण के रूप में किसी एतिहासिक उपन्यास को लें। इतिहास-लेखन से ऐतिहासिक उपन्यास का भेद इस बात में होता है कि प्रथम का लेखक जहाँ कार्यों और प्रयोजनों का यथातथ वृत्त प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है, और कल्पना तथा सहानुभूति का उपयोग यथातथ के, तद्गत अर्थ के, विषयनिष्ठ मर्म तक पहुँचने में करता है, वहीं ऐतिहासिक उपन्यास का लेखक इन बाह्य और आन्तर वृत्तों के विषयिगत भाव-लोक में प्रतिष्ठित होकर और उसके भोगित्व का प्रेक्षक बन कर उसका तत्त्व प्रस्तुत करता है। इसीसे इतिहास का लेखक जहाँ सामान्यात्मक कल्पनाओं और साधारणीकरणों के आधार पर विशेष घटनाओं, कर्मों और प्रयोजनों का विशेषपरक विवरण और व्याख्या प्रस्तुत करता है, वहीं कलाकार विशेषपरक आख्यान का उपयोग निर्विशिष्ट, व्यक्त्योपाधि-मुक्त भाव की अभिव्यंजना के लिए करता है। उदाहरण के लिए, राम-सीता और दुष्यंन्त-शकुन्तला के क्रमशः वाल्मीकीय रामायण और अभिज्ञान शाकुन्तलम् में वर्णित चरित यदि इतिहास-सिद्ध भी हों तो भी उनकी ऐतिहासिकता इन कृतियों के लिए केवल व्यंजक माध्यम मात्र होती है, जैसे बुद्ध की प्रतिमा में प्रयुक्त प्रस्तर-खंड बुद्धभाव के आकृत्यवधारण के लिए माध्यम मात्र है। अवश्य इनमें बहुत अन्तर भी है, किन्तु यहाँ उस अन्तर की चर्चा अप्रासंगिक है। इसीसे कलाकार इतिवृत्त को भावलोक के तर्क की अपेक्षानुसार बदल और ढाल लेता है, और कभी-कभी तो वह इतिवृत्त अपने को पूरी तरह ही कलाकार द्वारा साक्षात्कृत भाव-लोक के अर्थ की विवृत्ति के प्रयोजन के लिए समर्पित कर देता है। उदाहरणतः राम, कृष्ण और बुद्ध के चरित। अब, ये चरित उपर्युक्त दो में से किसी एक विधा में सर्जित होते हैं, जैसे राम-चरित रामचरित-मानस में प्रथम (लोकोद्भासक) विधा में और उत्तररामचरित में दूसरी (अलौकिकता निरूपण की) विधा में सर्जित है। प्रथम में राम का वृत्त सामाजिक सम्बन्धों को भाव-लोक में पुनर्जन्म देकर उन सम्बन्धों के ऐहिक जीवन को उद्भासित करने के लिए उपकरण बनता है, और दूसरे भाव के अरूप-अनाम अस्तित्व के नामरूप में विस्फुट होने के लिए उपादान बनता है। लौकिक उपाधियों से यह मुक्ति ही कला को सामान्य बनाती है। परिणामतः यह प्रत्ययात्मक सामान्यता से भिन्न प्रकार की सामान्यता है। इसमें प्रथम को ब्रह्म के सत्-तत्त्व से और दूसरे को आनन्द तत्त्व से सम्बन्धित कहा जा सकता है।

कला-सर्जन को प्रायः सौन्दर्य-सर्जन के और कला-बोध को सौन्दर्य बोध के

पर्याय के रूप में देखा जाता है, जबकि लोक में सुन्दर नयनाभिराम आकृति को और गौणतः श्रवणाभिराम ध्वनि आदि को कहा जाता है। किन्तु यह सर्वविदित ही है कि कला में कलित रूप या भाव आवश्यक रूप से इन्द्रियाभिराम या मनो-अभिराम नहीं होता। तब कला को सौन्दर्य-सर्जन कहने से क्या तात्पर्य ? लौकिक सौन्दर्य का कलात्मक सौन्दर्य से क्या सम्बन्ध है ?

अभी हमने लौकिक सौन्दर्य को अभिरामता से परिभाषित किया है, किन्तु इसमें प्रमाण मानसिक प्रतिक्रिया हुई, कोई वस्तुगत लक्षण नहीं। किन्तु वास्तव में यदि थोड़ा गहराई से देखा जाया तो भौतिक वस्तुओं के ज्ञान की भी यही स्थिति है, उनकी विद्यमानता किसी ऐन्द्रिक प्रतिक्रिया से ही सूचित होती है, उसके स्वगत लक्षण से नहीं। इस प्रकार 'सुन्दर' और 'लाल' निरूपणों में अन्तर इनके प्रमाणों में विषयिनिष्ठ-विषयिनिष्ठ के प्रकार-भेद के कारण नहीं है बल्कि विषयिगत प्रतिक्रियाओं में ही प्रकार-भेद के आधार पर है। भौतिक वस्तुपरक प्रतिक्रिया अस्तित्वाग्रही बुद्धि-विकल्पों के लिए उपादान बनती है और अभिरामतापरक प्रतिक्रिया भोगाग्रही बुद्धि-विमर्श के लिए। ऐसा नहीं है कि दूसरी प्रतिक्रिया में अस्तित्व का आग्रह रहता नहीं है, किन्तु वह परोक्ष और गौण होता है अथवा कहें वह इन्द्रियमूलक विकल्पजन्य ही होता है। जैसे 'यह पुष्प सुन्दर है' में 'यह पुष्प है' वस्तु-मूलक अध्यवसाय ही है, जो 'सुन्दर' पद से व्यंजित भाव-निरूपक विपमर्श के साथ क्रियान्वित होता है। वास्तव में सौन्दर्य के लौकिक बोध में यह परोक्ष और गौण पक्ष प्रत्यक्ष और मुख्य होने की भ्रान्ति से ग्रसित हो जाता है और इस प्रकार भोगाग्रही विमर्श अस्तित्वाग्रही विकल्प का रूप ले लेता है। इस विपर्यास का घटित नहीं होना ही कला-बोध है।[1] यह दिवास्वप्न में बाल और वयस्क के मनस् में भेद के जैसा है : इनमें पहला इस स्वप्न को सत्य-रूप में ग्रहण कर उससे नियंत्रित होता है, जबकि दूसरा इसकी असत्यता को अप्रासंगिक जानकर इसके सौख्य के उपभोग के लिए उसमें स्वतन्त्रतया विचरण करता है। कला इस अस्तित्व-अनाग्रही भोग-विमर्श को ही अभिव्यक्ति देती है। उदाहरण के लिए कुमारसंभव का पहला श्लोक लें :—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः। १.१.

इस श्लोक की पहली पंक्ति साधारण वर्णनात्मक वाक्य जैसी ही है, सिवाय 'देवतात्मा' विशेषण के, जो वर्णनात्मक नहीं होकर रूपक है; किन्तु तब भी इस पंक्ति का संपूर्ण पदविन्यास और छन्द मानों 'देवतात्मा' पद में व्यक्त गौरव और अलौकिक पावनता की अनुभूति में अपने को उड़ेल रहा है, और दूसरी पंक्ति में वह जैसे वर्णना-

१. तुलनीय—कांट-क्रिटीक आफ जजमेंट, अनु० ।—२

त्मक पदों को अपने जादुई आवेश से प्रत्यङ्मुख कर देता है, जिससे भाव अपने रूप का आप दर्शन कर सके। अलंकार, उदाहरणत: रूपक, अस्तित्वाग्रह से मुक्त करने के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। यहाँ द्रष्टव्य है कि वे भाषा के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। यही कारण है कि भाषा के अधिकांश पद रूपकात्मक ही है, किन्तु वे रूपक भाषा की, और वास्तव में हमारे ग्रहण मात्र की, मौलिक विवशता के कारण हैं (सत् हमें कल्पना के माध्यम से ही ग्राह्य होता है) किन्तु काव्य में प्रयुक्त अलंकार विवशता से नहीं स्वेच्छया प्रयुक्त होते है। 'चन्द्रमुख' पद मन को इन्द्रिय-विषय के ग्राह से मुक्त कर गुरुत्वाकर्षण-विहीन भाव-लोक में निर्बन्ध कर देता है। यही बात चित्र के लिए सत्य है, जिसके चित्रण का विषय प्रस्तुत दृश्य या आकृति नहीं होती या तो आकृति को आविष्ट करने वाला भाव-मूलक अर्थ होता है, अथवा चित्रकार के चिदाकाश में आलोकित भौतिक गुरुत्व से विनिर्मुक्त आकार मात्र। उदाहरण के लिए, यदि बाह्य दृश्य का देश बाह्य सापेक्षताओं के अधीन होता है, तो चित्र का देश स्वायत्त और अपने तन्त्र के केन्द्र पर।व्यवस्थित होता है। इसीसे यह भी आवश्यक नहीं होता कि चित्रकार किसी वास्तविक व्यक्ति का ही चित्र बनाये, और न वास्तविक व्यक्ति के चित्र में उसकी प्रतिकृति प्रस्तुत करना ही उसका कार्य होता है। यदि ऐसा हो तो फिर कुरूप व्यक्ति का चित्र भी कुरूप ही होता, जबकि चित्रलिखित कुरूपता और सुरूपता चित्रित-मूलक नहीं होकर भाव-निरूपित होती है। उदाहरणत: चित्रकार दिव्य और आसुर भावों को देवों और असुरों के रूप में प्रस्तुत करता है, और तब रेखाओं के माध्य से भावों का यह अनासक्त विमर्श दर्शक को उसी अनासक्त अभिवृत्ति में प्रस्तुत होकर अवगम्य होता है, और तब वह चित्ररूप में सुरूप-कुरूप नहीं रहकर कुशल-अकुशल होता है। वास्तव में यही बात तब प्राकृतिक रूप-दर्शन में भी होती है, जब हम उसके प्रति आसक्त-भाव से उन्मुख नहीं होकर प्रेक्षक-भाव से उन्मुख होते हैं। यही कला-बोध है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि, उब किसी बाह्य दृश्य से दर्शक के भाव-लोक में भोगित्व-मूलक प्रेक्षकत्व का उन्मेष होता है, तब वह दर्शक कला-बोध में स्थित होता है। इसे ही विषयपक्ष में इस प्रकार कह सकते हैं कि जब बाह्य दृश्य अपनी गोचर वस्तुता की अपेक्षा उससे उन्मिषित किसी 'जननान्तर स्थिर भाव' के अलौकिक प्रकाश में अपनी वस्तुता से मुक्त होकर प्रस्तुत होता है, तब वह कलाबोध का विषय होता है। कलाकार वह है जो इस बोध को किसी गोचर माध्यम में रूपायित कर देता है।

५

जगत्-चैतन्य : चैतन्य का जगद्विवर्त

'चैतन्य परिभाषित नहीं किया जा सकता, क्योंकि परिभाषा अवधारणामूलक होती है और अवधारणा चैतन्य की पूर्वापेक्षी होती है। अथवा, चैतन्य को 'पूर्वापेक्षा' से ही परिभाषित किया जा सकता है, अर्थात् जो कुछ भी है, सब चैतन्य का पूर्वापेक्षी है, चैतन्यपूर्वक है। किन्तु इसे परिभाषा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यदि यहाँ 'पूर्वापेक्षा' को अवधारणा के रूप में समझा जायगा तो यह व्यत्यय-दोष होगा, अर्थात् उलट करने का दोष। क्योंकि इसे परिभाषा मानने पर अवधारणा की पूर्वापेक्षा को भी अवधारणा मानना होगा। किन्तु विचारने चलेंगे तो अवधारणा तो आधार बनेगी ही, इससे कैसे बचेंगे, और जब विचार होगा अवधारणा होगी, तब चैतन्य भी होगा ही, इसके आधार के रूप में, दूसरे शब्दों में इसके आकार में। किन्तु 'विचार के आकार में चैतन्य' और 'विचार आधार के रूप में चैतन्य' यह क्या एक ही बात है ? यहाँ हम 'आधार' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में कर रहे हैं, उनके अनुसार यह एक ही बात है, क्योंकि यहाँ 'आधार' का प्रयोग 'उपादान' के अर्थ में किया जा रहा है। इस प्रकार विचार चैतन्य का एक आकार है; दूसरे शब्दों में, विचार विचार-चैतन्य है किन्तु यह केवल उसका एक आकार है। उसके और आकार भी हैं, और यदि उसके कुछ आकार हैं, तो इससे यह अनिवार्यतः उपपन्न नहीं होता कि वह निराकार नहीं हो सकता, न यही अनिवार्यतः उपपन्न होता है कि आकारों के आधार में कोई निराकार चैतन्य होगा ही। हो सकता है कि वह निराकार कभी नहीं होता हो, यह भी हो सकता है कि वह कभी निराकार हो नहीं सकता हो, किन्तु उसके कुछ आकार होने से यह उपपन्न नहीं होता कि वह निराकार हो ही नहीं सकता। जो एक से अधिक आकारों में आकारित होता है कि वह निराकार भी हो सकता है; यदि चैतन्य यह नहीं हो सकता है, तो यह उसकी विशेषता हो होगी जिस पर पृथक् विचार की आवश्यकता है। किन्तु अभी हम इस प्रश्न को आगे के लिए स्थगित रखेंगे। चैतन्य की अपरिभाष्यता देखने के लिए इतना ही देखना पर्याप्त है कि विचार इसका केवल एक आकार है, और विचार में चैतन्य के उपपादान होने से, विचार इसे अपने

क्षेत्र में भी भी आंक नहीं सकता, न वह अपने से अन्य आकारों का आकलन कर सकता है।

यहाँ हमने परिभाषा की असंभावना के दो हेतु एक-साथ कह दिये, किन्तु ये दो परस्पर बहुत भिन्न हैं। अब, यदि पहले हेतु को उचित स्वीकार किया जाय तो विचार केवल अपने ही आकार में निरूपित को परिभाषित कर सकता है, वह न अपने उपादान को परिभाषित कर सकता है और न अन्य आकारों ही परिभाषित कर सकता है। इस प्रकार चैतन्य के विचारेतर आकार, जैसे ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष, और अनुभूति भी परिभाष्य नहीं हो सकते। किन्तु इन्हें हम परिभाषित करते हैं, तब यह कैसे संभव होता है? यह दो प्रकार से संभव हो सकता है; एक तो तब यदि विचार का आकार अन्य आकारों को बिना रूपान्तरण के ग्रहण करने में समर्थ हो, अथवा यदि वह अन्य आकारों का अपने आकार में रूपान्तरण करे। वास्तव में परिभाषा में यह दूसरी स्थिति ही होती हैं, पहली स्थिति संभव भी नहीं है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि एक प्रकार से परिभाषा में चैतन्य का विचार-रूप ही प्रकट होता है, अन्य रूप अपरिभाष्य रहते हैं।

जहाँ तक दूसरे हेतु का सम्बन्ध है, यह विचारणीय है कि विचार और उसके उपादान का परस्पर क्या सम्बन्ध है? किन्तु इसमें यह कठिनाई है कि उपादान का ग्रहण कैसे होगा? क्योंकि ग्रहण केवल विचाराकार में, अथवा कम से कम किसी आकार में, ही हो सकता हैं; किन्तु तब वह उपादान नहीं रहेगा। स्पष्टत: विचारोपादान विचारणीय नहीं हो सकता, जैसे प्रत्यक्षोपादान प्रत्यक्षगम्य नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष में रूप प्रत्यक्षगम्य होता है, और उपादान, चैतन्य, इन्द्रिय विशेष के आकार में प्रत्यक्ष और रूप की उत्पत्ति का हेतु होता है। इसी प्रकार विचार में विचार-विषयः प्रत्ययः विचारणीय होता है, विचारोपादान विचार के आकार में उस विचार और प्रत्यय की उत्पत्ति के लिए हेतु होता है। इस प्रकार चैतन्य की अपरिभाष्यता उसके भाषा या विचार का आधार होने के कारण है। इसी प्रकार इसकी अगोचरता और अवेदनीयता भी है।

वेदना में यद्यपि विचार के समान ग्राह्य-ग्राहक-भेद नहीं रहता, यह भेद वेदना के स्मृति के माध्यम से उसका ग्राह्य रूप में अवधारण होने पर ही उत्पन्न होता है, किन्तु वेदना में उपादान और आकार का भेद रहता है, अर्थात् वेदना चैतन्य का वेदनाकार में आविर्भाव है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो वेदना और चैतन्य को अभिन्न मानना होगा, किन्तु इसे माना नहीं जा सकता, क्योंकि तब या तो अन्य

आकारों को चैतन्यपूर्वक नहीं माना जा सकेगा, अथवा यह मानना होगा कि इन आकारों में भी वेदना रहती है और वही उपादान चैतन्य है।

निश्चय ही—जीव मूलक† विचार, प्रत्यक्ष, वासना आदि में वेदना भी रहती है, जीव-स्तर पर इनका घटित होना इनका संवेदन होना भी है, किन्तु चैतन्य जीव से, और इस प्रकार वेदना से भी पूर्व है; वेदना उसका उसी प्रकार एक आकार है, जिस प्रकार विचार है, पहला वेदनाकार है और दूसरा बुद्ध्याकार। जीव को चैतन्य का वेदनाकार भी कह सकते हैं। अन्य आकार भी उसमें न्यूनाधिक मात्रा में प्रकट होते हैं, किन्तु आकार उसमें आद्य और मौलिक होता है, और उसमें सब आकारों के साथ संयुक्त रहता है। जैसे प्रत्यक्ष, विचार, वासना आदि कुछ भी, जब जीव में घटित होते हैं, तब वेदनापूर्वक ही घटित होते हैं। वेदना और अन्य आकारों में एक मौलिक भेद है, वेदना के अतिरिक्त अन्य सब आकार विषयोन्मुख होते हैं, वेदना निर्विषय होती है। किन्तु इस दृष्टि से विचार का भी अन्य आकारों से एक मौलिक भेद है, और वह यह कि यह विषयोन्मुख भी हो सकता है और विषय पराङ्मुख भी। किन्तु यह वेदना के समान निरुन्मुख नहीं रह सकता। किन्तु किसी भी जीव में, सुषुप्ति के सिवाय, कभी शुद्ध वेदना की स्थिति भी रहती है, यह सन्देहास्पद है। कुछ लोग शुद्ध सुषुप्ति की अवस्था भी स्वीकार नहीं करते हैं; किन्तु ऐसा मनुष्य के लिए कहा जा सकता है, अन्य जीवों के लिए नहीं। जीवों में शीत निद्रा (हिबर्नेशन) की अवस्था यह निर्विषय-वेदना की अवस्था ही है, जो कठोपनिषद् में वर्णित तृतीयावस्था है, और जिसे वेदान्त में भ्रामकरूप से तुरीयावस्था के निकटतम माना गया है।[1] विकास-क्रम में अवरतम जीवों में, और वनस्पतियों में,

† 'जीव' शब्द का प्रयोग हम 'प्राणी' के अर्थ में कर रहे हैं, 'आत्म' या 'उपहित आत्मा' के अर्थ नहीं।

१. यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि वेदान्त में निद्रा को आनन्दावस्था (मुक्तावस्था) से सम्बन्धित किया गया है, इसलिए उसमें इसकी अवधारणा स्वभावतः इससे सर्वथा भिन्न है, जो हम प्रस्तुत कर रहे हैं। किन्तु हमारे विचार में इसे 'निद्रावस्था' नहीं कहना चाहिए। वेदान्त से हमारे प्रतिपादन में भेद का कारण यह है कि वेदान्त के आचार्य पारमार्थिक अनुभव से आरम्भ करते हैं और उसी को केन्द्र में रखते हैं। जब कि हम लोक-साधारण अनुभव से आरम्भ करते हैं।

जागृति की अवस्था में भी सविषयता अनुपस्थित रहती है, किन्तु तब भी वह शुद्ध वेदना की स्थिति नहीं होती, उस स्तर पर भी वेदना के अतिरिक्त वासना भी रहती है, जिसे निर्विषय अपेक्षात्मकता (इंटेंश्नेलिटी) की अवस्था कहा जा सकता। वासना चैतन्य को विषय से सम्बद्ध करती है, किन्तु वह सदैव सविषया ही हो, यह आवश्यक नहीं है; उसका विशिष्ट लक्षण अपेक्षामात्रता ही है। किन्तु विषय बोध अवश्य अनिवार्यतः वासनामूलक (अपेक्षामूलक) होता है, जीव में वह सदैव वेदनामूल भी होता है, क्योंकि वेदना आद्यतम जीव-धर्म है। प्रत्यक्ष और विचार चैतन्य के विषयात्मक व्यापार हैं, यह इनका विशिष्ट लक्षण है, यद्यपि इनके विषय भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। विषय की परिभाषा अभी तात्कालिक रूप से 'प्रस्तुत विशेष' यह दी जा सकती है। 'विशेष' शब्द यहाँ 'सामान्य' का विपरीतार्थक नहीं होकर व्यावर्तकता का ही सूचक है, अन्यथा विचार-विषय तो सामान्य ही होते हैं। इस प्रकार 'गोत्व' भी इस अर्थ में विशेष है, क्योंकि इसमें 'अश्वत्वादि' का व्यावर्तन है। 'प्रस्तुत' शब्द में चैतन्य की निवर्तकता अभिप्रेत है, अर्थात् चैतन्य इसमें अपनी पर्यन्तता और अपने से इतरता देखता है। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि प्रस्तुति की स्फुटता प्रत्यक्ष में उपलब्ध नहीं होती, यद्यपि बौद्धों ने केवल प्रत्यक्ष में ही स्फुटता देखी है। किन्तु वसुबन्धु इसमें ग्राह्य-ग्राहक-भाव की अनुपस्थिति देखते हैं,[1] जो कि विषयभाव के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार वसुबन्धु के अनुसार, उपर्युक्त अर्थ में विषयभाव (विशेष प्रस्तुति) केवल विकल्प-ग्राह्य है, प्रत्यक्ष-ग्राह्य नहीं। प्रकट रूप से दिङ्नाग का प्रतिपादन उसके विपरीत होने पर भी यह स्वीकार किया जा सकता है कि उसका भी वास्तविक अभिमत वही है। तो भी प्रत्यक्ष को विषयात्मक कहना ही उचित है, क्योंकि अध्यवसाय जिस विषय को निश्चित करता है, वह प्रत्यक्षात्मक ही होता है। अध्यवसाय का करण बुद्धि है, प्रत्यक्ष का करण इन्द्रिय है और वेदना का करण देह। इन्द्रिय-मूलक अध्यवसाय को शुद्ध विचार से पृथक् करने के लिए हम इसके करण को अन्तःकरण कह सकते हैं। चैतन्य की ये तीनों वृत्तियाँ विषयात्मक होती हैं।

साधारणतः चैतन्य के ये चारों आकार परस्पर सहयोग में रहते हैं। इन्द्रिय-विषय अन्तःकरण के सहयोग से निश्चित और स्थिर होता है, वासना चैतन्य को विषयोन्मुखता में प्रवर्तित करती है, और वेदना विषय को विज्ञापित करती है। इस

---

१. वसुबन्धुः विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः, विंशतिका प्रकरण—१। वास्तव में वसुबन्धु मूलचैतन्य को विज्ञप्तिमात्र मानते हैं, जिसमें अर्थावभासन (ग्राह्य-ग्राहक-भाव) असत् है, किन्तु उससे रहित ऐन्द्रियविज्ञान सत् है।

प्रकार जीव में चैतन्य, निद्रावस्था के सिवाय, विषयोन्मुख प्रवृत्त और विषय से नियन्त्रित रहता है। केवल शुद्ध विचार की स्थिति इनसे भिन्न है। उसके विषय धर्म या तत्त्व होते हैं, और व्यावर्तन प्रस्तुत में अप्रस्तुत का संग्राहक होता है। इस प्रकार विचार-विषय गोत्व अगोत्व का सन्निवेशक होता है। दृष्ट रूप : वर्ण-आकार : अन्तः-करण द्वारा 'यह गाय है' के रूप में अगाय की व्यावृत्ति के साथ निश्चित होता है, वही विचार में अगोत्व के सहित समग्रता के आलोक से आलोकित होता है। अर्थात् शुद्ध विचार गोत्व का ग्रहण अगोत्व-व्यावृत्ति के रूप में नहीं, बल्कि गोत्व में अगोत्व व्यावृत्ति के द्वारा उपलक्षण बनाकर इस द्वन्द्वात्मकता में समग्रता का ग्रहण करता है। किन्तु यह विचार भी विषयात्मक ही है, यद्यपि यह विषय नितान्त भिन्न प्रकार का होता है, जिसके स्वरूप पर हम आगे विचार करेंगे। किन्तु यहाँ यह द्रष्टव्य है कि निद्रा में चैतन्य का निर्विषय वेदनाभाव चैतन्य में सविषयता की आगन्तुकता का द्योतक है। किन्तु निद्रा में वासना और विषयोन्मुखता निष्क्रिय स्थिति में रहते हैं और इनकी सक्रियता, दूसरे शब्दों में क्रियाप्रवृत्ति, निद्रा की समाप्ति के लिए हेतु होती है। अन्यथा एक बार निद्रा की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर उसकी समाप्ति नहीं होनी चाहिए। **किन्तु चैतन्य की दो अन्य अवस्थाएँ भी हैं, जो इस अवस्था से और परस्पर भी भिन्न हैं। इसमें एक अवस्था वेदनारहित और ऐन्द्रिकता-रहित शुद्ध रचनात्मक वासना की है, और दूसरी रचनात्मक वासना से निवर्तन के प्रयत्न की।** इनमें प्रथम प्रकारक अवस्था एक ओर जगत्-रचना में और दूसरी ओर सांस्कृतिक रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है, और दूसरी मनुष्य के मूल्यान्वेषण और आत्म-अनात्म-विवेक में। जगत्-रचना को बहुतों ने ईश्वरीय कर्तृत्व के रूप में देखा है; यहाँ हमारा वह अभिमत नहीं है, क्योंकि कर्तृत्व में एक प्रकार के व्यक्तित्व या अस्मिता बोधः अभिमानः की अपेक्षा होती है, जो जगत्-रचना में दिखायी नहीं देती। वास्तव में अस्मिता का आविर्भाव जीव के माध्यम से ही होता है, जो मनुष्य के स्तर पर प्रत्यङ्मुख होता है और व्यक्तित्व का आधार बनता है। ईश्वरीय चैतन्य केवल इस प्रत्यङ्मुखता की पराकाष्ठा ही हो सकता है, जो पराकाष्ठा के साथ ही निरहंकारता और इस प्रकार अकर्तृकता भी है। बौद्ध शून्यता, वेदान्तिक ब्रह्म, और सांख्यीय पुरुष ये अत्यन्त प्रत्यङ्मुख और निरहंकार चैतन्य है। **किन्तु जगत्-रचना में व्यक्त चैतन्य कर्तृत्व-रहितः निरहंकारः रचनात्मक वासनाभाव है, जिसका स्वरूप बौद्धिक है।** जगद्रचना में दो स्तर या प्रकार दृष्टिगोचर होते है, एक स्तर जीव-भाव-मात्रता का है और दूसरा जैविक मनोरचना का, जो सहज जैव प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) के रूप में व्यक्त होता है। इनमें प्रथम आद्यतम है, जो एक ओर विभिन्न जाति-प्रत्ययों (फॉर्म्स) के रूप में और दूसरी ओर साहंकार वासना-विकल देहों के रूप में व्यक्त होता है।

सहज जैव प्रवृत्ति में प्राणि व्यवहार प्रयोजनारूप व्यवस्थित होता है; यह पक्षियों के घोंसला-निर्माण और प्रवास-यात्राओं में, तथा मधुमक्खियों की समष्टि-व्यवस्था : छत्ता-व्यवस्था : में अपने प्रकृष्टतम रूप में दिखायी देता है। इसमें एक सुनियोजित-सुविचारित कुशल कार्य व्यवस्था दिखायी देती है, जिसका कर्त्तृत्व व्यष्टि में परिलक्षित नहीं होता। मनुष्य में इस प्रकार की क्रिया व्यक्तिपरक अभिमान : कर्त्तृत्वाभिमान और ज्ञातृत्वाभिमान : मूलक होती है; इंजीनियर गृह-निर्माण के प्रयोजन और उसके संस्थान और रूप-रचना को कल्पित करता है और इस कर्त्तृत्व की कल्पना और कर्त्तृत्व के प्रति अभिज्ञ होता है, किन्तु पक्षी घोंसला सहज रूप से बनाता है और उस घोंसले की कल्पना और कर्त्तृत्व का अधिष्ठातृत्व उसमें नहीं होता। दूसरे शब्दों में उसका देहाहंकार[1] और कर्त्तृत्वाभिमान एकदेशीय नहीं होते। इसमें पक्षी यन्त्रवत् नियुक्त व्यवहार करता है, दूसरे शब्दों में वह कर्मेन्द्रियरूप होता है। किन्तु इस व्यवहार में एक कल्पना और कौशल है, यह स्पष्ट है। इसका अधिष्ठान व्यक्ति-मनस् नहीं होने की अवस्था में अतिव्यक्ति-मनस् ही हो सकता है। किन्तु यह अतिव्यक्ति-मनस् वेदनात्मक नहीं हो सकता, यह वेदना-रहित, देह-रहित मनस् ही हो सकता है, यह स्पष्ट है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि घोसला व्यष्टि-पक्षी ही बनाता है, तब सहज क्रिया का अधिष्ठान भी व्यष्टि-पक्षी के मनस् को ही क्यों नहीं माना जाय? इसका उत्तर यह है कि 'सहज क्रिया' के अर्थ में ही अधिष्ठान की व्यष्टि-मनस्मूलकता का निषेध निहित है। मनस् की व्यष्ट्योपाधि का अधिष्ठान अस्मिता-बोध है, जो क्रिया कल्पना ऐन्द्रिक ग्रहण और वैचारिक ग्रहण आदि को इतर-व्यावृत्त अहंता के देश में प्राप्त करता है। मनुष्य से अवर जीवों में यह बोध अवरता के क्रम में क्षीण से क्षीणतर है और उसी मात्रा में उनमें वैयक्तिक मनस् भी क्षीण है। यह द्रष्टव्य है कि कुछ जीवों में, जैसे मधुमक्खियों, चीटियों और पक्षियों में, मनोव्यापार पर्याप्त प्रखर और विकसित है, उनमें मानसिक वैयष्टिकता अनुपस्थित है, जबकि दूसरे बहुत से जीवों में, जैसे केंचुए आदि में, और वनस्पतियों में, मनोव्यापार ही क्षीण है। इस वैयक्तिकता-रहित मनोव्यापार का अधिष्ठान व्यक्त्युपाधि-रहित वेदना-रहित अतिमनस् में ही मानना

१. 'अहंकार' शब्द का प्रयोग हम अतिक्रामी स्तर पर पार्थक्य विधायक : वैशिष्ट्य विधायक : नियम के रूप में कर रहे हैं, यह प्रयोग सांख्य और वेदान्त के अनुसार है। इसी प्रकार 'अभिमान' का प्रयोग ग्राह्य अहंभाव के अर्थ में किया गया है।

युक्त है। इसी प्रकार प्राणि-देह के अस्तित्व के दो स्तर हैं, एक स्तर वेदना, इन्द्रिय और मनस् का आश्रय-भूत है, यह स्तर देहाहंकार का है : दो व्यक्ति एकसाथ वेदना और एकसाथ स्पर्शानुभव या दर्शन-श्रवणादि नहीं करते; दूसरा स्तर जाति-प्रत्यय का व्यंजक, अथवा धारक, है, जैसे गो-देह गोत्व का और श्वान-देह श्वानत्व का। जिस अर्थ में यहाँ हम इन जाति-प्रत्ययों को देख रहे हैं, वे न तो बौद्धों के अर्थ में विकल्प हैं, और न नैयायिकों के अर्थ में जातियाँ हैं। ये ऐसे वास्तविक प्रत्यय हैं, जो जो व्यष्टि-देहों को आकार देते और उनके माध्यम से न्यूनाधिक पूर्णता के साथ व्यक्त होते हैं। इन प्रत्ययों की अनुरूपता हम मानव-बुद्धि द्वारा साक्षात्कृत उन प्रत्ययों में भी देखते हैं, जो मानव-कृत रचनाओं में व्यक्त होते हैं, जैसे घटादि में एक प्रकार से और प्रतीक-रचनाओं में दूसरे प्रकार से। उदाहरणतः घट-प्रत्यय अनिवार्यतः घट-व्यष्टि रूप में ही व्यक्त हो सकता है, इस प्रकार वह जल प्रस्तर आदि सामान्यों से भिन्न प्रकार का सामान्य है। इसी प्रकार गोत्व आदि हैं : प्रत्येक गाय-देह में सबलता-दुर्बलता, लघुता-दीर्घता, पृथुलता-कृशता आदि गुण व्यष्टि-मूलक हैं, किन्तु गोत्व-मूलक एक आकार है, जो उसमें न्यूनाधिक स्फुटता से व्यक्त होता है, जैसे दो घटों के वर्ण, आयतन आदि से अतिरिक्त उनमें घटत्व होता है। इस प्रकार ये प्रत्यय बौद्धों के अर्थ में विकल्प नहीं हैं, किन्तु तब भी ये इस अर्थ में विकल्प हैं कि ये रूप या प्रतिभास नहीं है, ये बौद्धिक है : घटत्वादि मानव-बुद्धिमूलक और गोत्वादि अतिव्यक्ति-अतिमनस्-मूलक। अतिवैयक्तिक बुद्धि और वैयक्तिक बुद्धि में यही अन्तर है कि द्वितीय अस्मिता-युक्त और विदित (वेदनामूलक) होती है, जबकि प्रथम इन दोनों से रहित होती है।

जैव सृष्टि के समान ही भौतिक सृष्टि भी बौद्धिक चैतन्य की ही अभिव्यंजक है। किन्तु इनके सर्जक प्रत्ययों के स्वरूप में मौलिक अन्तर है। जैव सृष्टि व्यष्टि-आकृतियों के रूप में होती है, जबकि भौतिक सृष्टि निराकृति प्रत्यय को व्यक्त करती है। इसी से गाय या श्वान का ग्रहण हम ऐसे विषयों के रूप में करते हैं, जो एकसाथ सामान्य और विशिष्ट होते हैं, और दोनों रूपों में ये हमारी विषयता का अतिक्रमण करते हैं, जब कि भौतिक जगत् का ग्रहण अविशिष्ट सामान्य विषय के रूप में ही होता है। भौतिक विषय के ग्रहण के दो स्तर हैं—ऐन्द्रिक और बौद्धिक। ऐन्द्रिक स्तर पर भौतिक जगत् किसी स्वतन्त्र प्रत्यय या आकार को व्यक्त नहीं करता, उस स्तर पर यह विशिष्ट प्रतिभाओं के रूप में निश्शेष विषय होता है : इसमें वस्तु और प्रतिभास में अभेद होता है। अवश्य यहाँ भी एक भेद प्रदर्शित होता है, कि हम ग्राह्य रूप का ग्रहण उस ग्रहण से स्वतन्त्र सन् में अधिष्ठित के रूप में करते हैं, किन्तु यह वस्तुता या सत्ता भी एक सामान्य-स्वरूपात्मक ही होती है, विशिष्टि प्रतिभासों

में विशिष्ट सत्ता के रूप में गृहीत नहीं होती; और सामान्य वस्तुता के रूप में यह केवल एक आत्मविश्रान्त भावरूप (बींग-इन-इट्सेल्फ) होती है, जो ग्राहक चित् का का प्रतिक्षेप मात्र : निराकार-अरूप चित् का निराकार-अरूप प्रतिबिम्ब मात्र : होती है। विषय रूप में यह अन्तःकरणमूलक अध्यवसाय का अध्यवसेय होती हैं, जो उतनी ही स्फुट होती है, जितना स्फुट सत्ता का प्रत्यय होता है।[1] किन्तु विषय का एक दूसरा स्तर बुद्धि-ग्राह्य प्रत्यय हैं, जो भौतिक नियम के रूप में ग्राह्य होता है। यह नियम भौतिक विज्ञान में स्फुट विषयता प्राप्त करता हैं; किन्तु इस नियम को कांट के समान मानव-बुद्धि से आक्षेप मानने के बजाय अतिमानवीय बुद्धि के प्रत्यय के रूप में देखना अधिक युक्त प्रतीत होता है। अवश्य भौतिक नियम के अत्यन्त सामान्य होने के कारण इसे मानुषिक बुद्धि के आकारों के आक्षेप के रूप में भी देखा जा सकता है, किन्तु मानुषिक बुद्धि के आकारों के स्वयं अतिक्रामी होने से इनकी अयादृच्छिक सत्ता तो स्वीकार करनी ही होगी। कांट और दिङ्नाग इन्हें विकल्प कह कर समझ लेते हैं कि उन्होंने इनकी व्याख्या कर दी : कि ये वस्तु-सत् पर असत् आरोप मात्र हैं; इसके पीछे उनकी यह अतर्कित धारणा है कि यद्यपि चित् और सत् दो हैं, और तब भी चित् असत् हैं, और वह चित् दुहरा असत् है और सत् से असम्बद्ध भी, जो निराकार सत् को प्रतिबिम्बित नहीं कर इसे इस आकार में ग्रहण करता है। किन्तु जैसा कि हमने देखा, जगत् बुद्धिमूलक सृष्टि है, जो स्वयं चिन्मूलक है, और यह चित् इस सर्जन के क्रम में रूप, वेदना, अन्तःकरण, बुद्धि आदि के रूप में आविर्भूत होता है।

यह चित्-सृष्टि चैतन्य का विषयोन्मुख प्रवर्तन है। किन्तु इसके समानान्तर एक और क्रम दृष्टिगोचर होता है, जिसे चैतन्य के विषय-भाव से निवर्तन का क्रम कह सकते हैं। यह चित्-सृष्टि का एक नितान्त भिन्न आयाम है, जिसके स्पष्ट लक्षण मानुषिक स्तर पर प्रकट होते हैं। किन्तु इसकी और प्रयत्न की मात्रा का इतिहास उस विकास-क्रम के रूप में देखा जा सकता है, जिसे जीवविज्ञान जैव विकास के रूप में देखता है। जैव विकास का इतिहास वास्तव में मस्तिष्क-यन्त्र के विकास का इतिहास है, किन्तु यह चैतन्य के विषय के बन्धन से मुक्त होने के प्रयत्न के जैविक मार्ग के रूप में भी देखा जा सकता है, क्योंकि ये दोनों उसी प्रकार सम्बन्धित दिखायी देते हैं, जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय और चक्षु-गोलक, या श्रवणेन्द्रिय और कर्ण सम्बन्धित दिखायी देते हैं। विषय से मुक्ति का यह प्रयत्न अपनी प्रथम सफलता उस आन्तर

१. इस विषय पर विस्तृत चर्चा के लिए लेखक की 'दर्शन का प्रारम्भ-बिन्दु विषय और आत्म' पुस्तक में अध्याय ३—भी द्रष्टव्य।

उद्भिन्नता के रूप में प्राप्त करता है, जिसमें चेतना प्रेक्षक-प्रेक्ष्य रूप में विभक्त हो कर प्रेक्ष्य को विषय के रूप में पृथक् स्थापित कर देती है और प्रेक्षक रूप में आत्म-निरीक्षण में प्रवृत्त होने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेती है। मनुष्य से अवर जीवों में चैतन्य केवल वेदना के माध्यम से प्रकाशित होता है और वासना रूप में नितान्त परोन्मुख प्रवर्तित रहता है। इसमें इस दृष्टि से एक अद्वयता रहती है कि इसमें यह (चैतन्य) आपादमस्तक विषय-निमग्न रहता है और उसी से निर्धारित और निरूपित होता है, और इस प्रकार इसमें ग्राहक-ग्राह्य-भाव का द्वैत स्फुट नहीं रहता। इसके विपरीत मानुषिक स्तर पर चैतन्य ग्राह्य-ग्राहक रूप में उद्भिन्न होकर अपना विषय से पृथक् आत्म रूप में और विषय का पर के रूप में ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। ये दोनों निर्धारण अत्यन्त प्रयत्न-साध्य हैं, और मनुष्य में भी साधारणतः अत्यन्त अस्पष्ट : परस्पर व्यामिश्रित : रहते हैं। इस निर्धारण के प्रयत्न की सफलता का मनुष्य में भी स्तर-भेद वास्तव में उसे पाशव स्तर से तारतम्यतः जोड़ता है। इसी के अनुसार जीवों में वरता-अवरता की कोटि भी बनायी जा सकती है, और यह जैव वरता-अवरता से समानान्तररूप से सम्बन्धित की जा सकती है। इस तारतम्य अथवा कोटि-क्रम को जैव विकास के विपरीत चिद्विकास का इतिहास, अधिक उपयुक्त शब्दों में, चैतन्य की विषय से विमुक्ति के प्रयत्न की सफलता का इतिहास, कहा जा सकता है।

किन्तु यदि चैतन्य के इस प्रयत्न का लक्ष्य उसका विषय की ग्रन्थि से अपना मुक्ति-लाभ करना है, तब ज्ञान का साध्य विषय नहीं हो कर विषयी का, चैतन्य का, आत्म स्वरूप-विमर्श ही हो सकता है, अन्यथा चैतन्य को तो विषय सहज ही सिद्ध हैं, वह तो उसे आत्मसात् ही किये रहता है, उससे आगे उसमें क्या अन्वेष्य रहता है? जैसा कि वर्गसां और सौत्रान्त्रिक बौद्धों ने ठीक ही देखा, विकल्प (इंटलेक्ट) तो विषय से विषयी को व्यवहित ही करता है। जिसे हम विषयनिष्ठता कहते हैं, वह वास्तव में विषयी के उस वासना के आरोप से मुक्त होने के रूप में ही सिद्ध होती है, जो उसे विषयोन्मुख रखती है।[1] इसी से ज्ञान का विस्तार मनुष्य में विषयों की

---

१. इस प्रकार फिनोमिनलोजी-दार्शनिकों द्वारा चैतन्य को विषयापेक्षा-स्वरूपवान् परिभाषित करना भ्रामक है और नैयायिकों द्वारा ज्ञान को इन्द्रिय-सन्निकर्षमूलक रूप में परिभाषित करना भ्रामक और ग्राम्य दोनों। यदि उनकी यह परिभाषा केवल प्रतिभासिक ज्ञान तक सीमित होती, तब दूसरी बात थी, किन्तु उनके लिए ज्ञान और प्रातिभासित ज्ञात एक ही हैं।

संख्या-वृद्धि के रूप में नहीं होकर प्रतीक-व्यवस्था के उत्तानीकरण : सूक्ष्मीकरणः के रूप में होता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यह प्रतीक-व्यवस्था व्यक्ति-मनस् से अतिक्रामी अवेदनात्मक बौद्धिक चित् का विमर्श है, जिस प्रकार जीव-सृष्टि अवेदनात्मक नियक्तिक बौद्धिक चित् की व्यवस्था है, किन्तु इस अन्तर के साथ कि द्वितीय अनात्मोन्मुख विषय-सृष्टि की वासना से प्रवृत्त है, और प्रथम आत्मोन्मुख स्वरूप विमर्श के मूल्य-बोध से।

यहाँ यह देखना भी महत्त्वपूर्ण होगा कि मानव-चैतन्य के स्तर पर यह अवेदनात्मक अतिवैयक्तिक प्रतीक-सृष्टि स्वयं उस अहंकार के अतिक्रमण के द्वारा होती है, जो अहंकार पाशव चैतन्य में मौलिक है, और उसके धर्मरूप में रहता है, किन्तु उसके अस्तित्व और बोध का अतिक्रमण करता है। **जबकि मनुष्य में अहंकार एक ओर उसके अस्तित्व और बोध के अतिक्रामी नियामक के रूप में, पशु के समान ही, उसके देह, इन्द्रिय, और मनस् को धारण करता है, और साथ ही चित् के प्रत्यङ्मुख-भाव में स्वयं विषय हो कर अपने अतिक्रमण को भी सम्भव करता है। यह अतिक्रमण अस्तित्व के रूप में प्रतीक-व्यवस्था में और मूल्य के रूप में सत्यान्वेषण में सिद्धि पाता है।** प्रतीक-व्यवस्था अहंकार और अहंकारातिक्रमण का विचित्र सम्मिश्रण है। प्रतीक-व्यवस्था विभिन्न आयामात्मक है। कलाएँ, विज्ञान, धर्म-तन्त्र, भाषा आदि इसके विभिन्न आयाम हैं। यह वैभिन्य, तथा रूप और अर्थ का वह आकुंचन, जो प्रत्येक प्रतीक-व्यवस्था के बाह्य और आभ्यन्तर अस्तित्व को पार्थक्य में धारणा करता है, अहंकार-मूलक है। 'प्रतीक-व्यवस्था' को भाव (बींग) का बौद्धिक अवधारण, दूसरे शब्दों में, विकल्पात्मक विमर्श के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इस विमर्श का यह स्वभाव है कि यह विमृश्य भाव की अखण्डता का ग्रहण खण्डशः (विभक्तिपूर्वक) करता है, किन्तु यह विभाजन ही इसे उस अखण्ड भाव के आन्तर तत्त्व के वैभव दर्शन में समर्थ भी बनाता है। एक गीत रचना या काव्य-रचना इसके सहज-ग्राह्य उदाहरण हैं, जिनमें एक भाव भाव्यतः विभक्त होता है, और यह वैभिन्य उस भाव की एकता में धारित होता है। किन्तु यह उतना ही भाषा के लिए भी सही है, जिसे बौद्धों ने इसी कारण अर्थ : वस्तु : आवरक के रूप में देखा था। अपोहवाद के अनुसार शब्द का वाक्य अपने अर्थ का अभिधान अतद्-व्यावृत्ति के रूप में करता है, अर्थात् 'गो' शब्द या वाक्य 'अगो नहीं है' यह है, और इस प्रकार इनके अनुसार, प्रत्यक्ष-विषय गो 'गो' शब्द द्वारा परोक्षतः ज्ञापित होता है। किन्तु उन्होंने यह नहीं देखा कि वास्तव में यह भाव की अखण्डता में निगूढ़ अर्थ-वैभव के उद्घाटन की एक विधि है, जो भाषा को एक प्रतीक-व्यवस्था बनाती है। प्रत्यक्ष में

संज्ञापित एक रूप जिस भाव में गृहीत होता है वह अध्यवसाय के द्वारा अन्यान्य संभाव्य रूपों के अधिष्ठान के रूप में एक समृद्धतर भाव में परिणत हो जाता है, किन्तु भाषा में वह अप्रस्तुत रूपों :संभाव्य प्रत्यक्षोंः और अप्रस्तुत अध्यवसायों : 'अगो' द्वारा संकेतित: के संस्थान में अवयवभूत होकर ऐसे अखण्ड भाव में संस्थित हो जाता है, जिसका वैभव अद्भुत् और विराट् हैं।

मूल्य के रूप में अन्वेष्य सत्य बाह्यत : निर्धारित सत् की चिदोन्मुख विकास-यात्रा है। 'सत्य' का साधारण अर्थ चित् का सत् से साक्षात्कार है। यह सत्य क्या है? सत् का भौतिक तत्त्व के रूप में निर्धारण आधुनिक यूरोप का पूर्वाग्रह है, अन्यान्य संस्कृतियों ने इसको ऐसी समग्रता के रूप में देखा है, जो स्वयं द्रष्टा का भी समावेश करती है, और तब उन्होंने इसमें वैयक्तिक अहंकार के समर्पण को ही सत्य की परम सिद्धि माना है। इस समग्रता की आत्यन्तिकता और परमता को सब प्रकार से अपरिभाष्य :अनिरूप्यः कहने के लिए उपनिषद्कार ने इसे असत् तक कहा है,[1] प्लेटों ने इसके उत्कर्ष से विभोर होकर इसे सर्वसमावेशी अद्वय शिवभाव कहा है। यह द्रष्टव्य है कि जिन्होंने जगत् को ईश्वरीय रचना के रूप में देखा है और ईश्वर को इसके सर्जक और अधिष्ठाता के रूप में, वे ज्ञान की सिद्धि उसकी इस सृष्टि के ज्ञान में नहीं, स्वयं ईश्वर के ज्ञान में ही देखते हैं, और यह ज्ञान प्रेक्षणात्मक नहीं हो कर आत्मसमर्पणात्मक, सायुज्य लाभात्मक, प्रकार का है। जहाँ सत् अद्वय रूप में देखा गया है और ज्ञान को प्रेक्षक-भाव के रूप में, वहाँ यह प्रेक्षक में प्रेक्ष्य की और प्रेक्ष्य में प्रेक्षक की सिद्धि के रूप में : लय के रूप में; देखा गया है : 'यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।...... सः (भूमा) कस्मिन् प्रतिष्ठित इति? स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नि इति।......... स एवाधऽस्तात् स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः, स उत्तरतः, स एवेदं सर्वमस्ति। अथातोऽहंकारादेश एवाहमेवाधस्तादहंमुपरिष्टादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमस्ति।[2] यहाँ सांख्यीय दृष्टि का

---

१. 'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत' तैत्तिरीय वल्ली २, अनुवाद ७।

२. केवल असीम में ही सुख है, न्यून में सुख नहीं है।—यह असीम किसमें प्रतिष्ठित है? यह अपनी महिमा में ही प्रतिष्ठित है, अथवा यह उससे भी महत्तर है और इस प्रकार उससे भी धारणीय नहीं है। वही नीचे है, वही पीछे और आगे, दायें और बायें, सर्वत्र है। अब इसी बाह्यतः संकेतित सत् का अन्तरतः संकेतित सत् के रूप में आख्यान किया जाता है—मैं ही

उल्लेख उपकारक होगा, जहाँ चित् से इतर का निर्धारण सत् के बजाय विषय के रूप में किया गया है। चित् से इतर रूप में विषय जड़-सत् है। किन्तु इस विषय-भाव के लिए विषय की चित् से पृथक् सत् के रूप में स्थापना न केवल अनावश्यक है, बल्कि समस्यात्मक भी है। वेदान्त ने इसे चित् के ही आत्मप्रवास के रूप में, आत्मेतरत्व के रूप में, देखा है। विषय की स्वतन्त्र सत् के रूप में स्थापना की कठिनाई डेकार्टीय सन्देह से स्पष्ट है। किन्तु यदि विषय को ही सत् और उसे भौतिक मान लिया जाय तब मनुष्य का सम्पूर्ण मूल्यान्वेषण, दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रयत्न, व्यर्थ हो जायगा।

विषय क्या है? इसकी एक परिभाषा हम पीछे दे चुके हैं, जिसे हमने तत्कालिक कहा था। वह परिभाषा चैतन्य के औपाधिक प्रेक्षकभाव की अपेक्षा से निर्धारित की गई थी। 'प्रस्तुत विशिष्ट' में प्रस्तुति प्रेक्ष्यभाव है और 'विशेष' अहंकारोपाधिमूलकता। इस प्रकार भौतिक विषय इन्द्रियोपाधिमूलक प्रेक्ष्यभाव है। इसी प्रकार संख्या, सामन्य, नियम, धर्म (एस्सेंसिस) आदि अभौतिक प्रेक्ष्यभाव हैं, और परिणामतः अभौतिक विषय हैं, इनके प्रेक्ष्यभाव की उपाधि विकल्प-बुद्धि है। विषय को प्रेक्ष्यभाव कहने का यह अर्थ नहीं है कि वह असत् है, किन्तु उसका सत् प्रेक्षकभाव की अपेक्षावृत्ति में है। उदाहरणतः भौतिक विषय का सत्त्व क्या है? प्रथमतः यह प्रस्तुत वस्तु पृथुल, कठोर, मटियाले रंग की आकृति विशेष है, जिसे हम 'प्रस्तर कहते हैं। दिङ्‌नाग और कांट इसे वस्तु-प्रतिभासमूलक विकल्प मानते हैं, अर्थात् इसके प्रथम क्षण को वस्तुसम्बद्ध : तत्सत्-सम्बद्धः मानते हैं। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि यहाँ विषय-सत् के रूप में निश्चित जो कुछ है वह सब विकल्पात्मक है, प्रतिभास न विषय है और न निश्चायक भाव। किन्तु दिङ्‌नाग और कांट का यह विचार है कि अध्यवसायात्मक विकल्प परस्पर स्वलक्षण सत् से सम्बन्धित होता है। जो भी हो, वह सत् से सम्बद्ध हो या नहीं हो, उसमें यह अपेक्षा अवश्य है कि वह तत् रूप में : स्वलक्षण रूप में : विद्यमान हो और चित् में यथार्थतः आभासित हो। किन्तु यह अपेक्षा प्रेक्षक-भाव को ही है, प्रेक्ष्यभाव को : विषय को : यह अपेक्षा नहीं है। यह अपेक्षा चित् को प्रेक्ष्य-भाव में : विषय में : आत्मबहिष्कृत करती है : इस भाव में चैतन्य आत्मप्रवासित होता है। किन्तु मानुष-चैतन्य बहिर्मुख दिशा में भी अग्रसर होने का सामर्थ्य रखता है और तब स्वयं प्रेक्षकत्व ही

नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ और मैं ही आगे हूँ, मैं ही दक्षिण में हूँ और मैं ही उत्तर में हूँ मैं ही सर्वत्र हूँ। (छान्दोग्योपनिषद् २३.२४.२५,।

प्रेक्ष्य होता है, जो आत्मप्रवास के बोध को उजागर करता है। यह स्थिति बहुत दुर्लभ है, इसकी संभावना मानुष-चैतन्य में प्रतिफलित उस उद्भिन्नता में ही विद्यमान है, जो प्रेक्ष्य को उस भाव में : प्रेक्ष्य-भाव में : अध्यवसित करती और अपना अस्मिता में भावन करती है। जैसाकि हमने कहा, यह प्रयत्नसाध्य है, क्योंकि यदि यह सहज होता तब विषय-भाव भी नहीं होता था, किन्तु यदि प्रत्यग्भाव भी सहज अन्वेष्य नहीं होता, तब इस प्रयत्न का भी प्रवर्तन नही होता। जैसा कि हम देखते हैं, यह प्रत्यग्भाव चैतन्य में आत्मप्रवास का दुःख और इस दुःख से मुक्ति की उत्कण्ठा उत्पन्न करता है, जो धर्म में तो परिलक्षित होती ही है, संगीत, काव्य, विज्ञान और तत्त्वमीमांसा आदि में भी परिलक्षित होती हैं—यहाँ यह उत्कण्ठा और त्रास के रूप में नहीं, बल्कि प्रेक्ष्य से विपरीत प्रेक्षकत्व के आत्मविमर्श के रूप में परिलक्षित होती है। आत्मोन्मुख प्रेक्षकत्व प्रेक्ष्यत्वमात्र की आगन्तुकता, उसके अन्यथाभाव और असद्-भाव-सम्भवता, के बोध के द्वारा और प्रवास-दुख जगन्मूलक अन्वेषणों की व्यर्थता के बोध के द्वारा उद्भासित होता है। कुछ लोग समझते हैं कि प्रवास-दुःख-बोध संस्कृति विशेष के पूर्वाग्रहों से उत्पन्न विभ्रम है। किन्तु ऐसा है नहीं। सभी संस्कृतियों में यह बोध विद्यमान है, अन्तर केवल इस बोध के रूप और स्तर का है, और इस तथ्य से कि यह बोध व्यक्ति संस्कृति से ग्रहण करता है, इसकी यथार्थता क्षीण नहीं होती, क्योंकि संस्कृति मानव चैतन्य का ही एक आयाम है जिसे प्रतीक-व्यवस्था के माध्यम में व्यक्त वेदना और वासना रहित बुद्धि का आत्मविमर्श (प्रकृतिमूलक बुद्धि के विषय-विमर्श के विपरीत) और स्वयं आत्मचैतन्य का ही आत्म-अभिज्ञान कहा जा सकता है। इस प्रकार संस्कृति और उसके विभिन्न पक्षों का आविर्भाव चैतन्य के आत्मोन्मुख अन्वेषण की यात्रा के क्रम में ही होता है – काव्य, कलाएँ, शास्त्र, विज्ञान, और दर्शन इसके बौद्धिक आत्मविमर्श को तथा धर्म और धर्म-मूलक तत्त्वमीमांसा प्रवास-बोध-जन्य उत्कण्ठा और आत्मसाक्षात्कार की अभीप्सा को व्यक्त करते हैं।

ऊपर के विवेचन से दो महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होते हैं : (१) चैतन्य के लिए कोई आकार विशेष अनिवार्य नहीं है—वसुबन्धु, दिङ्नाग और बर्कले के लिए रूपात्मक आभास या ज्ञप्ति, नैयायिकों के लिए प्रतिविषयाध्यवसाय (अर्थात् वेदना, रूप, और अध्यवसाय संयुक्त रूप से), फिनोमिनलोजी दार्शनिकों के लिए विषयोन्मुख वृत्ति, चैतन्य के अनिवार्य आकार हैं। कांट यद्यपि चैतन्य के निराकार : स्वलक्षण: स्वरूप को स्वीकार करता है, किन्तु वास्तव में चैतन्य उसमें अनुपलभ्य ही रहता है, क्योंकि एक ओर उसमें वैयक्तिक अहंकार चैतन्य के स्वलक्षण स्वरूप में भी मौलिक है और दूसरे प्रतिविषयाध्यवसाय (वेदना, रूप और विषयकरण) उसके अस्तित्व में मौलिक हैं, यद्यपि यह स्वरूप में मौलिक नहीं है, बल्कि उसमें

बाधक और उसमें स्वरूप और अस्तित्व का यह द्वैत एक विचित्र तत्त्वमीमांसीय समस्या उत्पन्न करता है, जिससे कांट तत्त्वमीमांसा को वर्जित क्षेत्र घोषित करके ही बचता है। इनके विपरीत हमने चैतन्य के लिए वेदना, रूप, अध्यवसाय, वैयक्तिक अहंकार सबको, तार्किक संभावना के रूप में ही नहीं, वास्तव अस्तित्व में भी, आगन्तुक पाया है। किन्तु इन सब की आगन्तुकता से यह सिद्ध नहीं होता कि चैतन्य इनमें से किसी भी आकार से विरहित रूप में : निराकार रूप में : रह सकता है।

वास्तव में तार्किक दृष्टि से आकार-विशेषों की चैतन्य के स्वरूप में आगन्तुकता उसके निराकार स्वरूप को आपादित करती है, किन्तु तार्किक आपादान केवल अवधारणाओं और उनके सम्बन्धों का द्योतक होता है, इसलिए यह आद्य चैतन्यगत वस्तुस्थिति का प्रापक नहीं हो सकता। यदि वस्तुस्थिति की कल्पना इस आपादन के अनुसार की जाय तब इसका अर्थ होगा कि आरम्भ में निराकार चैतन्य में आकारों का अविर्भाव हुआ, और तब यह सृष्टि-क्रम आरम्भ हुआ—सो कामयत, बहुस्याम प्रजायेयेति।[1] किन्तु 'आविर्भाव' काल को पूर्वकल्पित करता है, और इस प्रकार आरम्भ को तार्किक आपादन के अनुसार वास्तविक मानने पर काल चैतन्य के अन्तर्गत धर्म अथवा उसके भी पूर्व हो जाता है। किन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है। तार्किक आपादन को अस्तित्वात्मक वस्तुस्थिति-द्योतक अर्थ में नहीं ले कर यदि स्वरूपगत वस्तुस्थिति-द्योतक अर्थ में लिया जाय, तो इसका अर्थ होगा कि, क्योंकि आकार चैतन्य के लिए आगन्तुक है, इसलिए चैतन्य स्वरूपतः निराकार है, और आकारमूलक होने से ये आगन्तुक धर्म सर्जन, ग्रहण आदि जब उसमें रहते हैं, तब अनादितः रहते हैं, किन्तु चैतन्य इनसे परे हैं। किन्तु यह 'स्वरूप' अवधारणाका-विषय है, अतः स्वयं आकारमूलक है, इसलिए या तो यह स्वीकार करना होगा कि यह आकार (अवधारणा) से परे अनवधार्य को देख सकता है, अथवा यह स्वीकार करना होगा कि स्वरूप की चर्चा वदतोव्याघात है। हमारे विचार में, इसमें प्रथम विकल्प उचित जान पड़ता है—जैसा कि हमने देखा, मानव स्तरीय चैतन्य में आत्मोन्मुख अतिक्रमण परिलक्षित होता है, अवधारण आत्मविमर्श में इस अतिक्रमण की एक अवस्था है, यद्यपि विषयोन्मुख विमर्श में यही (अवधारण) वस्तु-सर्जन का रूप ले लेता है—प्रकृति, संस्कृति और व्यक्ति सभी स्तरों पर। इस प्रकार तार्किक आपादन तार्किक आकार में तो स्वरूप-द्योतक नहीं हो सकता, किन्तु इस आकार में अपने से परे स्थित स्वरूप को लक्षित कर सकता है; और यह संकेतन उस आलोक

---

१. तैत्तिरी, वल्ली २, अनुवादक ६।

से प्रमाणित भी होता है, जिसका आभास मानव-चैतन्य अन्तरोन्मुख वृत्ति में स्थित हो कर पाता है। इस प्रकार अवधारणाएँ और उनके सम्बन्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति :औपाधिक अभिव्यक्तिः होने पर भी, चैतन्य के स्वरूप के स्वतः ज्ञापक नहीं होते, किन्तु चैतन्य की अन्तर्मुखीन वृत्ति में संकेतन बन कर उसके उद्भासक होते हैं। किन्तु यह उद्भासन स्वरूप चैतन्य की आद्य अवस्था का जो अवस्था विभिन्न आकारों के रूप में प्रवर्तित होती है, नहीं होकर उस प्रत्यङ्मुख अवस्था का है, जो इस वैविध्य को देखते हुए उसे अपने में उपसंहृत करती है। यह उपसंहरण जब सभी वृत्तियों का एक साथ होता है, तब जो ऐश्वर्य प्रकाशित होता है, उसका आभास हम बुद्ध की उस करुणा में पाते हैं, जो प्राणिमात्र की अविद्या के प्रति द्रवित है, और इस प्रकार जो प्राणियों का और अविद्या का अतिक्रमण करती है, अथवा उस औपनिषद् ऋषि के आनन्दभाव में पाते हैं जो आकारों और रूपों के मूल स्रोत में प्रतिष्ठित होकर इनके आविर्भाव का स्वच्छन्द प्रजनन-कामना के रूप में साक्षात्कार करता है। इसके विपरीत, जब चैतन्य स्वयं इन आकारों का विमर्श करता है, तब विभिन्न कलाओं और शास्त्रों का जन्म होता है। वास्तव में जगत्-सर्जन को भी चैतन्य का वृत्ति-विमर्श ही कहा जा सकता है, किन्तु इस अन्तर के साथ कि उसमें इस विमर्श का बोध नहीं होता, केवल विमर्श-क्रिया होती है। विमर्श-बोध विमृश्य के विषय रूप में उपस्थान और विमर्श-क्रिया के आत्म-ज्ञापन के रूप में होता है। यह चैतन्य के प्रत्यङ्मुख आत्मदर्शन का दूसरा चरण है। अन्तिम चरण वृत्तियों और क्रियाओं का आत्मसाक्षात्कार में उपसंहरण और इनका अधिष्ठातृत्वपूर्वक विजृम्भण है। गीता में इस स्थिति को निष्काम कर्म कहा गया है और बौद्धों में इसे गौतम बुद्ध को 'निर्माण-कार्य कह कर व्यक्त किया गया है। योग दर्शन में मन की निष्क्रयता या पूर्ण शमन की सिद्धि इससे भिन्न है, यह उस आद्य चैतन्य की स्थिति को सिद्ध करने का प्रयत्न है, जो 'जगत् के आविर्भाव के पूर्व' है। किन्तु जैसाकि हमने देखा, यह स्थिति तार्किक पूर्वापेक्षा के रूप में तो अवधार्य है, किन्तु वास्तव नहीं है। वास्तव में यह स्थिति निषेधात्मक है यह वृत्तियों के सर्जक चैतन्य द्वारा उनके अधिष्ठातृत्व की, सर्जक भाव की, सिद्धि नहीं होकर, वृत्तिवों के विषयों और वस्तुओं के, अपवर्जन की, सिद्धि है, जो चैतन्य में अचित्-भाव के अवतारण के तुल्य है।

प्रत्यङ्मुख चैतन्य : दर्शन का आरम्भ-बिन्दु*

दार्शनिक आरम्भ-बिन्दु का प्रश्न स्वयं भी एक दार्शनिक प्रश्न है और इस कारण इसका उत्तर विभिन्न दार्शनिकों के आरम्भ-बिन्दुओं के सर्वेक्षण से नहीं दिया जा सकता। यह तथ्य कि यह प्रश्न दर्शन से उसकी सीमाओं में रहते हुए ही किया जा सकता है, स्वयं में दर्शन के आरम्भ-बिन्दु की ओर, उसके मूल की ओर, एक महत्वपूर्ण संकेत है। यह प्रश्न उत्पन्न ही क्यों होता है, यह कैसे एक उचित जिज्ञास्य है, ये दूसरे महत्वपूर्ण प्रश्न हैं, जो स्वयं इस प्रश्न के अपने आरम्भ, अपने आधार, की परिपृच्छा करते हैं। यह प्रश्न अन्य किसी ज्ञान-व्यवस्था से, उस व्यवस्था के अन्तर्गत, नहीं किया जा सकता, यह तथ्य दर्शन को अन्य ज्ञान-विधाओं से मौलिक रूप में पृथक् करता है और इसे एक मूलगामी, अपने ही आधार की ओर उन्मुख, ज्ञान-विधा के रूप में प्रकट करता है। इस प्रकार वास्तव में दर्शन स्वरूपतः एक मूलगामी : प्रत्यङ्मुख : ज्ञान-विधा है और अपनी प्रत्येक गति में यह अपने मूल की ओर, अपने आरम्भ की ओर, अभिक्रमण करता है। कोई विज्ञान या शास्त्र अपने मूल के सम्बन्ध में, अपनी व्यवस्था में रहते, यह प्रश्न इसलिए नहीं कर सकता, क्योंकि वे ज्ञान-व्यवस्थाएँ हैं और

---

* मैंने पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के दर्शन विभाग में अतिथि-अध्यापक के रूप में रहते हुए (१ सितम्बर से ३१ दिसम्बर के अन्तराय में) कुछ व्याख्यान दिये, जिनमें यह प्रथम व्याख्यान का विषय था। इस व्यख्यान के और अन्य व्याख्यानों के क्रम में मेरे प्रतिपादनों की प्रतिक्रिया में उपस्थित अध्यापकों में से कुछ ने, मुख्यतः डा० धर्मेन्द्र गोयल ने, कुछ प्रश्न उठाये जिन्हें परिणामस्वरूप वहाँ हुए विचारविमर्श का प्रतिफल यह लेख है। डा० गोयल के आक्षेप और उनके संक्षिप्त उत्तर लेख के अन्त में पृथक् भी दिये जा रहे हैं। लेखक डा० गोयल के प्रति, और अन्य उपस्थित अध्यापकों के प्रति इस सहयोग और विचारोद्दीपन के लिए बहुत आभारी हैं।

अपने विषय के रूप और आकार से निर्धारित होती हैं। इनके विपरीत दर्शन यह प्रश्न उन व्यवस्थाओं से उनके आरम्भ-बिन्दु के सम्बन्ध में ही नहीं, अपने से अपने आरम्भ-बिन्दु के सम्बन्ध में भी कर सकता है; इतना ही नहीं, वह स्वयं इस प्रश्न के उत्स के सम्बन्ध में भी प्रश्न कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि यह विषयमूलक व्यवस्था ही नहीं है, यह ज्ञान का आत्मोन्मुख व्यापार है, जो निरन्तर अपने आरम्भ-बिन्दु से आरम्भ कर उसी पर लौटता है।

किन्तु यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्या ज्ञान आत्मोन्मुख : प्रत्यङ्मुख : हो सकता है ? क्या ज्ञान के लिए यह स्वरूपतः असम्भव नहीं है कि वह निर्विषय हो सके ? शंकर तक कहते हैं कि 'यह आत्मा भी अत्यन्त अविषय नहीं है, यह भी अहं-प्रत्यय गोचर है।[1] इस दृष्टि से हुस्सर्ल (और उससे पूर्व ब्रेंटानो भी) अधिक निश्चित है : वह चैतन्य को स्वरूपतः विषयापेक्षी (इंटेंशनल) मानता है। चैतन्य की इस विषयापेक्षा का आशय ठीक से समझने के लिए यहाँ एक उद्धरण देना उपयोगी होगा, जिसमें लेखक ने सार्त्र द्वारा हुस्सर्ल के मत के समर्थन की व्याख्या दी है। उसके अनुसार सार्त्र के लिए हुस्सर्ल के विषयापेक्षा-सिद्धान्त का मुख्य आकर्षण विषयिनिष्ठतावाद (सब्-जेक्टिविज़्म) से मुक्ति दिलाने में ही है।.......इस सिद्धान्त में विषयापेक्षा विषयिमूलक ध्रुव (सब्जेक्टिव पोल) का फलन नहीं है, बल्कि यह विषयभाव (नोएमा) है, **चैतन्य हमें वस्तुसत् के सम्मुख प्रस्तुत करता है** और उसी के माध्यम से अहं (इगो) का उद्भव होता है। इस प्रकार अहं विषयसमवर्ती है, यदि इसे अनुवर्ती नहीं भी कहें तो। सार्त्र हुस्सर्ल की चैतन्य की इस अवधारणा का रूपान्तरण कर **अहं के असत्त्व (नान्बींग) को आदिम प्रदत्त** (डाटम) का पद दे देता है। हुस्सर्ल का चैतन्य की निरहंता का सिद्धान्त (नान् इगोलोजीकल थीयरी) अस्तित्व-निषेध (निहिलेशन) के दर्शन के रूप में रूपान्तरित हो जाता है।[2] किन्तु यह द्रष्टव्य है कि हुस्सर्ल विषय का स्थगन (सस्पेंशन) संभव मानता है, यद्यपि यह स्थगन विषय से विमुखता नहीं देता, केवल एक दूसरे स्तर की विषयता देता है।[3] तब क्या दर्शन भी वास्तव में

---

१. नायमात्मा अत्यन्तेनाविषयः, अहम्प्रत्ययगोचरत्वात्।' (ब्रह्म सूत्र भाष्य १, १)

२. मारिस नटांशन का लेख 'फिनोमिनलोजी एंड एग्ज़िस्टेंश्यलिज़्म', जोसेफ जे० कोक्कलमान द्वारा सम्पादित पुस्तक **फिनोमिनलोजी** (एकर बुक्स) में संकलित। यहाँ यशदेव शल्य कृत **विषय और आत्म** (अखिल भारतीय दर्शन परिषद्) से उद्धृत, पृ० १४४-४५।

३. वही।

एक विज्ञान ही नहीं है जिसका कार्य अन्य विज्ञानों के समान अपने विषय के रूप और आकार को समझना ही है? पश्चिम के दार्शनिकों का यही प्रयत्न रहा है कि दर्शन को भी विज्ञान के समान निश्चित आधार दिया जा सके। हुस्सर्ल इसके सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रयत्नशील रहे हैं। वहाँ के जिन दार्शनिकों ने यह समझा कि यह संभव नहीं है, उन्होंने दर्शन को ज्ञान का स्वतन्त्र क्षेत्र ही नहीं माना और इसे उन विधाओं का अनुषंगी मात्र माना जो विधाएँ उनके अनुसार ज्ञान-विषयक विधाएँ हैं : धार्मिक दार्शनिकों ने सन्त को ज्ञान का अधिकारी माना तो ऐन्द्रिक प्रत्यक्षवादियों (पाज़िटिविट्स) ने वैज्ञानिकों को, और कुछ अन्यों ने लोकसंज्ञान (कामन सेंस) को। इनके लिए दर्शन का कार्य इनके साक्षात्कारात्मक अथवा सहज ज्ञान का बौद्धिक विधा में अनुवाद-विमर्श मात्र है। दर्शन को ज्ञान का स्वतन्त्र क्षेत्र केवल उन्होंने माना जिनके अनुसार बुद्धि सत् की एकमात्र अथवा सर्वाधिक महत्वपूर्ण ज्ञापक है। किन्तु यहाँ हमारा उद्देश्य सत् के स्वरूप का विवेचन नहीं है, केवल दर्शन के आरम्भ-बिन्दू पर विचार करना है। सत् का प्रसंग अनुषंगतः ही उठाऔर आगे भी उठेगा, किन्तु केवल अनुषंगतः ही यह यहाँ प्रासंगिक है। मूल प्रसंग यहाँ आरम्भ-बिन्दु का है, जो अपने स्वरूप से ही अन्ततः आरम्भ-बिन्दु के आरम्भ-बिन्दु का प्रश्न हो जाता है, और यदि आरम्भ-बिन्दु का प्रश्न अपने आरम्भ-बिन्दुकी परिपृच्छा करता है, तब इस गति का कहीं अवसान नहीं हो सकता। अपने मूल की ओर उन्मुखता बुद्धि का एक गुण है, चैतन्य की अन्य सत्र विधाएँ केवल विषयोन्मुख रहती हैं। सांख्य ने जगद्-भाव के प्रसार और उपसंहार का मूल बुद्धि को ही कहा है. किन्तु उसकी उप-संहारात्मक वृत्ति को विवेक में पर्यवसायिनी माना है। किन्तु क्या आरम्भ-बिन्दु की परिपृच्छा का स्वरूप उपसंहारात्मक है? क्या यह परिपृच्छा पर्यवसायिनी है?

सांख्यीय विवेक बुद्धि-वृत्ति द्वारा अपने स्वरूप की सीमाओं का अवगाहन और अवलोकन है, जिसका अर्थ है कि उसके अनुसार बुद्धि अपने आरम्भ-बिन्दु पर पहुँच सकती है और तब अपना अतिक्रमण कर सकती है। सिद्धान्ततः यह बात संभव प्रतीत नहीं होती, क्योंकि यदि यह संभव हो, तो आत्मोन्मुख निवर्तन की पहली ही क्रिया के साथ निवर्तन का पर्यवसान हो जाना चाहिए, तब आरम्भ-बिन्दु के आरम्भ और इस आरम्भ के मूल की परिपृच्छा की कोई संभावना या आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्येक बौद्धिक परिपृच्छा निवर्तनो-न्मुख क्रम में अपने विषय के अतिक्रमण के साथ अपना विषयकरण करती है और इसके साथ पुनः विषयि-विषय सम्बन्ध में अवस्थित हो जाती है। प्लेटो और डेकार्ट ने चैतन्य को बुद्धि-स्वरूप मानते हुए इस तथ्य को नहीं देखा। प्लेटो ने बुद्धि को

प्रत्ययरूप सत् की साक्षात्कारिणी और डेकार्ट ने किसी भी विचार-क्रिया में आत्म-साक्षात्कार के साथ पर्यवासिनी के रूप में देखा है। किन्तु प्रथम तो बुद्धि किसी भी प्रत्यय का ग्रहण उसके अन्य के साथ भेद-विनिश्चय के बिना नहीं कर सकती, जिसका अर्थ है कि इसका विषय भाव और अभाव के द्वन्द्वों से निर्धारित होता है और परिणामतः अव्यवहित प्रदत्त नहीं होता, दूसरे, वस्तु (प्रत्यय) का ग्रहण बुद्धि की अद्वितीय विशेषता नहीं है, इसकी अद्वितीय विशेषता इसकी प्रत्यङ्मुख होने का सामर्थ्य है। प्लेटो केवल बुद्धि के विषय के स्वरूप की उदात्तता, आदर्शरूपता और अद्भुत स्फुटता से अभिभूत रहा और उसने इस विषय को ही सत् मान कर बुद्धि को आत्मगत सत् मान लिया। अवश्य डेकार्ट ने बुद्धि के आत्मोन्मुख अभिक्रम को उसके स्वभाव के रूप में देखा, किन्तु इस अभिक्रम को अपने प्रथम चरण में ही अपने मूल के साक्षात्कार के साथ पर्यवसायी माना। किन्तु प्रथम तो यह बुद्धि का स्वभाव ही नहीं है कि वह निवर्तनोन्मुखता में आत्मसाक्षात्कार के साथ पर्यवसायिनी हो, क्योंकि बौद्धिक आत्म-दर्शन में आत्म का विषयकरण कर दर्शक आत्म की ओर और पीछे लौटता है : वस्तु-दर्शन यदि इस दर्शन क्रिया के साथ पर्यवसित नहीं होकर 'मैं देख रहा हूँ'—बोध की ओर उन्मुख होता है, तो यह उन्मुखता 'मैं देख रहा हूँ' का विषयकरण कर और पीछे लौटती है। इसलिए या तो आत्म को बुद्धि की सीमाओं से बाहर रखा जाय और तब सन्देह क्रिया के आधार के रूप में देखा जाये, जैसाकि शंकर ने देखा, अन्यथा इस आत्मोन्मुख क्रिया को अपर्यवसायिनी माना जाय, जोकि वास्तव में यह है। किन्तु डेकार्ट बुद्धि को उसकी सीमाओं में रखते हुए ही उसका पर्यवसान देखना चाहता है, दूसरे शब्दों में उसे वह आत्मपर्यवसायिनी देखना चाहता है, जो संभव प्रतीत नहीं होता। वास्तव में डेकार्ट विचार-क्रिया के अव्यवहितत्व : विचारता हूँ मैं हूँ : में और उसकी अन्तर्वस्तु (कांटेंट) की स्पष्ट प्रदत्तता में (डिस्टिंक्ट गिवननेस) में भी भेद करता प्रतीत नहीं होता। इसकी पुष्टि दो बातों से होती हैं, एक तो इससे कि वह शुद्ध विचार के विषय : विविक्त प्रत्यय : को असन्दिग्ध प्रदत्त मानता है, और दूसरे, वह यह भी कहता है कि 'मैं हूँ' के रूप में उन्मीलन या अव्यवहितत्व वास्तव में 'मैं अपूर्ण हूँ' का उन्मीलन या अव्यवहितत्व होता है। किन्तु तब आत्म विचार-क्रिया की प्रत्यङ्मुखता नहीं होकर आत्म-प्रत्यय : विचार-प्रदत्त विषय : ही हो सकता है। इस प्रकार प्रत्यङ्मुख : आत्मोन्मुख : विचार-क्रिया का अवसान आत्म के अव्यवहितत्व (इमीडियेसी आफ सेल्फ) में देखने का डेकार्ट का प्रयत्न सफल नहीं कहा जा सकता। यह असफलता तब और भी स्पष्ट हो जाती

है, जब वह प्रत्यय की सत्यता को बाह्य सत् की अनुषंगी देखता है।[1] तब विस्तार-ग्राही प्रत्यय : अवधारणा : की सत्यता भौतिक द्रव्य के, और आत्म-ग्राही प्रत्यय की सत्यता ईश्वर के अधीन हो जाती है।

प्लेटो की बात दूसरी है, वह बुद्धि का दार्शनिक व्यापार आत्मोन्मुख नहीं देख कर बहिर्मुख ही देखता है (यद्यपि यह एक रोचक बात है कि वह भी गुफा में छायाएँ देखने के रूपक के द्वारा ज्ञान का स्वरूप विषय से निवर्तन में ही देखता प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में यह निवर्तन एक भिन्न स्तरीय विषयोन्मुख प्रवर्तन ही है) और दर्शन का आरम्भ-बिन्दु परिपृच्छा (क्वश्चनिंग) में नहीं देख कर जिज्ञासा में देखता है, जिसका अर्थ है कि वह बुद्धि-व्यापार को वस्तु-साक्षात्कार में पर्यवसायी मानता है। किन्तु बुद्धि बहिर्मुख वृत्ति में भी, अपने धर्म में रहते हुए, अपने व्यापार का पर्यवसान देख सकती है, या नहीं, यह एक विचारणीय बात है। हमने पीछे देखा कि बुद्धि विकल्पात्मक-द्वन्द्वात्मक है, तब वह किस प्रकार यह संभव मानता है कि वह : बुद्धि : अखण्ड सत् : दि गुड-परम शिव : का साक्षात्कार कर सकती है ?

वास्तव में प्लेटो बुद्धि को द्वन्द्वात्मक नहीं देख कर ऐन्द्रिय विषयों को सापेक्ष और इस प्रकार द्वन्द्वात्मक देखता है और उनके विपरीत बुद्धि-विषयों को निरपेक्ष और निरस्त-द्वन्द्व सत्ताओं के रूप में देखता है। पार्मेनिडीज़ संवाद में वह कहता है कि मेरा निर्धारण 'एक' और 'अनेक' दोनों प्रकार से किया जा सकता है : अंगों के संघात के रूप में या दैहिक सम्बन्धों के प्रसंग में मैं 'अनेक' हूँ और 'यहाँ बैठे सात व्यक्तियों में से एक' के रूप में 'एक' हूँ। किन्तु यदि कोई 'अनुरूपता', 'भिन्नता' आदि प्रत्ययगम्य वस्तुओं (आइडियाज़) के सम्बन्ध में यह कहे कि ये भी द्वन्द्वात्मक या सापेक्ष वस्तुएँ हैं, तो आश्चर्य होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार वह सुन्दर वस्तु (विषय) और सौन्दर्य तत्त्व (आइडिया आफ ब्यूटी) में, अथवा लंबे और नाटे व्यक्तियों तथा लंबाई और नाटेपन के तत्त्व (वस्तु) में भेद करता है, और प्रथम को सापेक्ष या द्वन्द्वात्मक अवधारणाएँ और दूसरे को निरपेक्ष वस्तुएँ या सत्ताएँ कहता है। इसी प्रकार सोफिस्ट संवाद में वह कहता है कि सत् (बींग) अपने को सत् और असत् (नान्-बींग) दोनों में घटित करता है, किन्तु जो इस प्रकार दोनों में घटित होता है वह सत् और असत् दोनों से विलक्षण है। बुद्धि के सम्बन्ध में यह मत स्पष्टतः बौद्ध मत से मूलतः

---

१. डेकार्ट-फिलासफीकल राइटिंग्ज़, पृ० २३०, संपा. तथा अंग्रेजी अनुवाद, नार्मन केंपस्मिथ, माडर्न लाइब्रेरी, न्यूयार्क, १९५८।

विपरीत है, जिसके अनुसार बुद्धि ऐन्द्रिक अथवा अतीन्द्रिय : यौगिक : प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्य विषयों का साक्षात् नहीं कर विकल्प-द्वन्द्वों : सापेक्षताओं : की सृष्टि करती है और उनका सत् पर उपचार करती है। यह मत दार्शनिकों में किसी न किसी प्रकार बहुत व्यापक रूप से स्वीकृत है। किन्तु यदि यह सही है तो दर्शन के लिए, उसके बुद्धिमूलक होने से, कोई अवकाश नहीं रह जाता, अथवा केवल आत्म-निराकरण ही एकमात्र कर्त्तव्य रह जाता है : जैसाकि सांख्य और विट्गिंस्टाईन (ट्रक्टेटस में) अपने-अपने ढंग से प्रतिपादित भी करते हैं, नागार्जुन की **'विग्रह-व्यावर्तनी'** का तो यह एकमात्र प्रयोज्य है ही। किन्तु यदि चैतन्य अपनी सभी विधाओं में विषयोन्मुख ही है, जैसाकि फिनोमिनलोजीवादी दार्शनिक मानते हैं, तब भी दर्शन के लिए कोई उचित अवकाश नहीं रह जाता, क्योंकि विषय की व्यवस्था देना विज्ञान का कार्य है।[1] डेकार्टीय आत्मोन्मुखता में भी दर्शन के लिए अधिक अवकाश नहीं है; क्योंकि उसका बौद्धिक चैतन्य अधिक से अधिक मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता का प्रापक ही हो सकता है, वह भी आत्मोन्मुख वृत्ति के बहिर्मुख पुनः प्रवर्तन में ही, और इस प्रवर्तन के साथ ही वह एक ओर अपने विस्तार-धर्मी प्रत्ययों की व्यवस्था के लिए ज्यामिति के पक्ष में दर्शन को छोड़ने के लिए बाध्य है, और दूसरी ओर अपूर्णता के प्रत्यय की, जोकि उसके आत्म-साक्षात्कार का अन्तर्गत प्रत्यय है,[2] व्याख्या के लिए ईश्वर-विज्ञान (थियोलोजी) के पक्ष में। किन्तु बुद्धि के स्वरूप के सम्बन्ध में ये तीनों प्रकार की अवधारणाएं युक्त नहीं हैं।

चैतन्य की आत्मोन्मुखता

चैतन्य में वास्तव में विषयोन्मुख और आत्मोन्मुख दो विपरीत दिशाओं में गति देखी जा सकती है। विषयोन्मुखता की पराकाष्ठा इन्द्रिय-वृत्ति में मिलती है, जिसमें विषय और विषयी : चैतन्य : के बीच अव्यवहितत्व रहता है। यह चैतन्य अपने विषय का अपनी वृत्ति के अनुसार आक्षेप कर उससे अवियोज्य रूप से सम्बद्ध हो जाता है। पाशव स्तर पर चैतन्य इसी अवस्था में मिलता हैं, यद्यपि इसमें भी चैतन्य

---

१ कहा जा सकता है कि फिनोमिनलोजीवादी दार्शनिक विषय की नहीं विषयापेक्ष की, अर्थात् विषय की चेतना में अवधारण के आकारों की व्यवस्था देते हैं; यह सही है, किन्तु वे स्वयं भी अपने दर्शन को धर्मों : तत्त्वों : का विज्ञान (साइंस आफ एस्सेंसेज) ही है और उचित रूप से ही।

२. द्रष्टव्य डा० भगवती राव-डेकार्टः दार्शनिक विवेचन, दार्शनिक त्रैमासिक, अप्रैल १९७३।

द्वारा विषय से वियुक्त होने के प्रयत्न के चर जैविक विकास-क्रम के रूप में देखे जा सकते हैं। बौद्धों या अनुभववादियों का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष जिस स्वलक्षण का साक्षात्कार करता है, वह वास्तव में विषय से पूर्णता वियुक्त बौद्धिक चैतन्य द्वारा वस्तु-निर्धारण है, चैतन्य और विषय : वस्तु : का अव्यवहित संयोग नहीं है, जैसाकि हम आगे देखेंगे। मनुष्य के स्तर पर विषय और विषयी के बीच सम्बन्ध व्यवहित हो जाता है। यह व्यवधान विकल्पात्मक नहीं है, जैसाकि बौद्ध अनुभववादी या कांट प्रभृति दार्शनिक समझते हैं, बल्कि यह चैतन्य की आत्मोन्मुख वृत्ति द्वारा अपने भीतर घटित विस्फोट-जन्य है, जिससे यह अपने को विषय से विच्छिन्न कर उसे प्रेक्षणीय और अपने को प्रेक्षक रूप में स्थापित करता है। इस विच्छेद के साथ इन्द्रिय-विषय विकल्प-विषय से भी व्यवहित हो जाता है, जो पुनः विषय ही है। किन्तु यह विषय बुद्धि-गोचर है, और इसकी विषयता इन्द्रिय-विषय की विषयता से सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्द्रिय विषय वस्तु-मूलक और बौद्धिक विषय काल्पनिक होता है, जैसाकि दिङ्नाग, कांट और अनुभववादी समझते हैं। सच बात यह है कि दिङ्नाग आदि जिसे निर्विकल्पक प्रतिभास कहते हैं, वह इन्द्रिय-विषय ही नहीं हैं, जैसा कि हमने अभी देखा है।[1] इसके विपरीत वह निर्वतित चैतन्य के प्रेक्षक-भाव की पराकाष्ठा है, जिसमें विषय अपने आवेष्टन से पूर्णतः विनिर्मुक्त चैतन्य के लिए प्रेक्षणीयता की शुद्धता में अवस्थित होता है। किन्तु इन्द्रिय विषय की शुद्ध प्रेक्षणीयता न केवल ऐन्द्रिक चैतन्य-मूलक नहीं होती, अपितु वह इस अर्थ में निर्विकल्पक भी नहीं होती कि उसे बुद्धयतीत चैतन्य की विषयता कहा जाय, वह केवल इस अर्थ में निर्विकल्पक होती है कि इसमें बुद्धि चैतन्य के आत्मोन्मुख अभिक्रम में अपने विकल्पकों का भी साक्षात्कार कर उनके परे देखती है। और इसी कारण, शुद्ध विषयता की यह दृष्टि दर्शन के ही अन्तर्गत है, यद्यपि विषय की इस शुद्धता की दृष्टि को सिद्ध करने में निहित प्रयत्न योग है, जो दर्शन का अनुशरण करता है और अनुक्रमशः दर्शन का सहायक होता है।

यह 'निर्विकल्पक विषय' ऐन्द्रिक नहीं होता, यह इस बात से देखा जा सकता हैं कि यह संवेदना से, जोकि इसका मूल ग्राहक : विषयी : है, और काल से, जोकि संवेदना का अनिवार्य धर्म है, मुक्त होकर निरालम्ब सत् में प्रतिष्ठापित होता है। अवश्य बौद्धों ने इसे काल-धर्म से मुक्त नहीं किया, किन्तु तब उन्होंने निर्विकल्पक प्रेक्षक को भी

---

१. इस पर विशेष के लिए द्रष्टव्य यशदेव शल्य-ज्ञान और सत्, अ० २ (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६७)।

उसी काल में स्थापित कर उसे कालातीत बना दिया। और इस विषय और विषयी दोनों का काल उनके अनुसार नितान्त क्षणिक : सद्यः उत्पन्न-विनष्ट : है, इससे इसका और समर्थन होता है।

किन्तु निर्विकल्पकता की यह साधना केवल इन्द्रिय-विषय का परमार्थ स्वरूप सिद्ध करने के लिए ही प्रयोजनीय नहीं होती, वास्तव में यह सिद्धि अपने-आपमें कुछ सिद्ध भी नहीं कर सकती। यह साधना वास्तव में चैतन्य के उस आत्मोन्मुख निवर्तन के अन्तर्गत ही प्रयोजनीय होती है, जो ऐन्द्रिक के ऊपर बौद्धिक विकल्पों का साक्षात्कार करता है। ऐन्द्रिक विषयों के समान बौद्धिक भी विषय विकल्प ही होते हैं और चेतना को उसी प्रकार पराङ्मुख रखते और बाँधते हैं, जिस प्रकार ऐन्द्रिक विषय; किन्तु ये अपने अर्थों में जटिल और गम्भीर होते हैं, और बुद्धि-जागरण के चैतन्य की निवर्तनोन्मुख वृत्ति के क्रम में होने के कारण इनमें प्रेक्षणीयता की न्यूनाधिक शुद्धता स्वरूपतः रहती है, जिसका अर्थ है कि इनके विषयी : बुद्धि : में प्रेक्षकत्व की न्यूनाधिक शुद्धता रहती है, जो इन्द्रिय-विषयों में स्वरूपतः अनुपस्थित होती है। किन्तु विषय रूप में इनकी : बुद्धि-विषयों की : विशेषता इनकी प्रेक्ष्यता, पारदर्शिता-द्वन्द्वात्मकता, विमृश्यता, अदेश-कालिकता और मननीयता है। इनमें कोई भी लक्षण इन्द्रिय-विषय में नहीं रहता, उसमें इनमें से कोई भी लक्षण होने का अर्थ है कि वह विकल्प से अनुप्रविष्ट है। इस प्रकार निर्विकल्पक ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष : संवेद-प्रदत्त : में कम से कम तीन लक्षण विकल्प-मूलक रहते हैं—द्वन्द्वात्मकता, प्रेक्ष्यता और अकालिकता। कांट ने तो अदेशिकता को भी निर्विकल्पक का धर्म माना है, किन्तु दिङ्नाग ने ऐसा नहीं माना है।

यहाँ इन लक्षणों की व्याख्या देना उचित होगा—

१. द्वन्द्वात्मकता का अर्थ है भाव और अभाव दोनों से युगपत् परिभाषित होना। इस प्रकार बुद्धि अपने किसी भी विषय का विनिश्चय भाव और अभाव दोनों से एक साथ करती हैं। यहाँ द्रष्टव्य है कि शान्तरक्षित ने स्वलक्षण को सर्वतोव्यावृत्त : अर्थात् ऐसा भाव जो अन्य सब में अभाव रूप से उपपन्न है, कहा है। किन्तु वास्तव में यह परिभाषा बौद्धों के अनुसार किसी भी शब्द-वाच्य विषय की है, स्वलक्षण की नहीं। इनमें भेद इस प्रकार किया जा सकता है कि द्वन्द्वात्मकता स्वप्रकाशित अन्यव्यावृत्ति है, जो केवल विकल्प-विषय में ही सम्भव है, स्वलक्षण में अन्यव्यावृत्ति अप्रकाशित रहती है, क्योंकि स्वलक्षण में अन्य का कोई प्रसंग नहीं रह सकता। अन्य का या अन्य से व्यावर्तन का प्रकाशन केवल वहीं हो सकता है, जहाँ

विषय का ग्रहण अन्यापेक्षापूर्वक हो। अन्य व्यावृत्ति का कारण ग्रहण की औपाधिकता है, उपहित चैतन्य अनिवार्यतः बांट कर ग्रहण करता है। इस प्रकार रूप का ग्रहण रूप-विशेष का ग्रहण ही हो सकता है : नील वर्ण प्रकाश किरणों का एक तरंग-दैर्घ्य-विशेष में ग्रहण है, अविभक्त तरंगता का ग्रहण नहीं है। इसी प्रकार प्रकाश भूततत्त्व-सामान्य का प्रकाशोपाधि में ग्रहण है। कोई भी ग्रहण उपाधि के बिना सम्भव नहीं है। किन्तु यह औपाधिकता केवल बौद्धिक ग्रहण में ही आत्म-प्रकाशित होकर द्वन्द्वात्मकता का रूप लेती है : 'वह राम है' में 'यह' का, 'अ-राम' का और 'था' तथा 'होगा' का व्यावर्तन उद्घोषित रहता है। और भाव तथा अभाव के द्वन्द्व का यह स्वप्रकाशन एक ओर अविभक्त को विभक्त कर नवीन तथा अतर्क्य अर्थों के वैभव को उत्सृष्ट करता है और दूसरी ओर इन अर्थों की औपाधिकता को देख कर अखण्ड : निरुपाधिक : में अपना अतिक्रमण करता है। 'एकोऽहं बहु स्याम' अथवा 'पुरुष-विमोक्ष निमित्तं प्रवृत्तिः प्रधानस्य'[1] का यही अर्थ है। इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना उपयुक्त होगा—रसना भूत तत्त्व की पाँच में से एक उपाधि का विषयाक्षेप और विषयावधारण करती है, किन्तु इन्द्रिय-वृत्तिक चैतन्य का यह अवधारण : ग्रहण : अपनी औपाधिकता का ग्रहण नहीं कर सकता। बुद्धि इस ऐन्द्रिक ग्रहण को स्व-प्रकाशित विकल्प-द्वन्द्वों में विभक्त कर पाकशास्त्र के रूप में विभाजन : विमर्श : के एक दूसरे आयाम की सृष्टि करती है, जो एक ओर रस-ग्रहण में निहित अनुद्भिन्न अर्थों को उद्भिन्न करता है, और दूसरी ओर इन असंख्य उपाधियों का एक व्यवस्था में समाहार कर इनके परे रस की सर्वसमावेशी अखण्ड एकता का आभास देखता है। यही विमर्श है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि विकल्प-ग्राह्य ये अर्थ उतने ही 'वस्तुगत' हैं, जितना संवेदग्राह्य अर्थ : रस : है।

२. बौद्धिक प्रत्यय अदेश-कालिक होते हैं, यह सम्भवतः विवाद-विषय नहीं होगा, किन्तु इसके महत्त्व की व्याख्या यहाँ प्रासंगिक होगी। सर्वप्रथम, कोई विषय अदेशकालिक हैं, इसे स्वीकार करने का अर्थ है कि देश-काल अस्तित्व के लिए अनिवार्य नहीं है। किन्तु इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जो विषय देश-काल, अथवा देश या काल में नहीं है, वे अस्तित्ववान् नहीं है। वास्तव में यह दूसरा मत ही लोक-प्रसिद्ध और विज्ञान-सम्मत मत है। जाति (सामान्य) की सत्ता की अस्वीकृति के मूल में वास्तव में यही धारणा है। किन्तु किसी प्रज्ञप्ति (प्रेपोज़ीशन) को लें, जैसे 'देश भौतिक वस्तु का अनिवार्य घटक है।' इस का विज्ञाप्य या विषय देश या काल

---

१. ईश्वरकृष्ण-सांख्यकारिका, ५७।

में नहीं है, इसी प्रकार, 'प्रत्येक वस्तु भाव और अभाव दोनों से एक साथ निर्धारित होती है' का विषय भी अदेश-कालिक है। अब यह कहना कि इन प्रज्ञप्तितों का अस्तित्व नहीं है, 'अस्तित्व' को देश-काल से परिभाषित करना ही होगा, यह दिखाना नहीं कि अस्तित्व के लिए देश-काल अनिवार्य है। वास्तव में प्लेटो के नीलिमा, लम्बाई आदि प्रत्यय-विषयों (आइडियाज) को भी इसी अर्थ में समझना चाहिए, न्याय दर्शन की जातियों के अर्थ में नहीं, जो विशेष वस्तुओं में रहती हैं। ये प्रत्यय वास्तव में गोचर विषयों के आधार और गन्तव्य : भाव और भाव्य : दोनों हैं, इनसे और इनमें निर्धार्य नहीं हैं। किन्तु यहाँ यह कहा जा सकता है कि विषय होना एक बात है, और अस्तित्ववान् होना दूसरी बात, इस प्रकार, प्रत्यय : बुद्धि-विषय : और प्रज्ञप्तियाँ विषय हो सकती हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इनका अस्तित्व भी माना जाय। किन्तु यदि यह प्रस्ताव स्वीकार किया जाता है, तो एक ऐसी कोटि माननी होगी जो दैशिक-कालिक विषयों और अदैशिक-कालिक विषयों दोनों का समावेश करे। 'सत्' ऐसी कोटि हो सकती है। स्वभावतः इस प्रस्ताव को स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं होगी। किन्तु यदि कोई यह कहता है कि प्रत्यय-विषय विषयिनिष्ठ कल्पनाएँ हैं, तो उसका उत्तर यह है कि यदि ऐसा हो, तो प्रत्यय-विषय के सम्बन्ध में सहमति और मतभेद नहीं हो सकते, और न उनका ग्रहण पर्याप्त-अपर्याप्त अथवा न्यूनाधिक पूर्ण होने की बात कही जा सकती है। किन्तु प्रत्यय-विषयों के सम्बन्ध में ये दोनों बातें देखने को मिलती हैं। वास्तव में यह प्रत्ययों के सम्बन्ध में ही वस्तुस्थिति है कि उनका अवगाहन करने के क्रम में सन्ततियों और सम्प्रदायों का निर्माण होता है।

इस प्रकार अदेश-कालिक वस्तुओं की सत्ता स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। और एक बार यह देख लेने पर यह देखने में भी कोई बाधा नहीं रहती कि बौद्धिक चैतन्य : बुद्धि-रूप उपाधि में प्रकट चैतन्य : के लिए व्यक्ति-रूप उपाधि अनिवार्य नहीं है। वैसे तो बुद्धि-विषय : प्रत्यय: की उपर्युक्त अनवगाह्यता इस बात की द्योतक होनी चाहिए कि इनके ग्राहक व्यक्ति-चैतन्य में ही वैयक्तिक अहं-कारोपाधि की सीमाओं का अतिक्रमण विद्यमान रहता है, किन्तु अतिवैयक्तिक बुद्धि की विद्यमानता इससे स्वतन्त्र भी देखी जा सकती हैं। इसका एक उदाहरण भाषा है। भाषा को दो प्रकार से देखा जा सकता है—प्रतीक-व्यवस्था के रूप में और प्रतीक-व्यवस्था के आधार के रूप में। वास्तव में इन दोनों में तब कोई भेद नहीं रह जाता, यदि हम इनके अणुओं : शब्दों या वाक्यों : को आकुंचन द्वारा उस अर्थ की अभिव्यक्ति करते देखें, जो इनमें अभिव्यक्ति के साथ ही इनके किनारों से उत्प्लवित

हो जाता है। इतर-व्यावृत्ति वास्तव में इस आकुंचन और उत्प्लवन के तथ्य की ही द्योतक है। 'यह घट है' वाक्य घटसामान्य, भौतिकवस्तुत्व, वस्तुत्वसामान्य, अवस्तुत्वसामान्य, इस लघु देश-विस्तार से भिन्न सम्पूर्ण देश, इस काल-क्षण से इतर सम्पूर्ण काल इस सब का व्यावर्तन कर एक वाच्य अर्थ का बोध कराता है। किन्तु यह व्यावर्तन-क्रिया अपने कर्तृत्व के बोध से उद्भासित होती है; और इस प्रकार यह वाक्य उस भाषा का अविभाज्य अंग बनता है, जो उन सब वाक्यों को धारण करती है, जो इससे व्यावृत्त होते हैं। यहाँ 'काल' 'वस्तुत्व' आदि भाषा-कल्पित रूपों में ही अभिप्रेत हैं। यहाँ प्रसंगतः यह कहना भी उपयुक्त होगा कि स्वयं एक भाषा भी वाक्-तत्त्व का आकुंचन है, उपाधि है, और वास्तव में यह अभिव्यक्ति मात्र का स्वरूप है कि वह अकुंचित : निरुपाधिक : में आकुंचन द्वारा उत्पन्न होती है। यह केवल एक रहस्यात्मक कल्पना नहीं है, यह एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद की संभावना से सिद्ध है। एक प्रतीक-व्यवस्था के रूप में एक भाषा अपने आप में एक पूर्ण गत्यात्मक वृत्त होती है, जिसके भीतर के सभी अंश उस वृत्त की गतिमान वर्तुलता से अन्तःप्रविष्ट रहते हैं। इस प्रकार किन्हीं भी दो स्वतन्त्र भाषाओं के वाच्य समान नहीं हो सकते। किन्तु तब भी एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद संभव है। कुछ विचारक अवश्य अनुवाद को संभव नहीं मानते[1], किन्तु यदि अनुवाद को अत्यन्ततः संभव नहीं भी मानें, तो भी यह बहुत सीमा तक तो संभव होता ही है। किन्तु आधार-भाषा (डीप ग्रामर), जो परावाक् में अपने आधार का संकेत करती है, के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनुवाद की संभावना को स्वीकार करना भी आवश्यक नहीं है। यह अस्तित्व उस विचारक के अस्तित्व से ही सिद्ध होता है, जो दो भाषाओं को देख कर उनमें परस्पर अनुवाद की असंभावना देखता है, क्योंकि वह उन भाषाओं की उपाधियों के रूप और उन उपाधियों में संकुचित अर्थ द्वारा उन विशिष्ट वाच्य रूपों का उत्प्लवन करने के असामर्थ्य को देखता है और इस प्रकार उस मूल अर्थ का भावन करता है, जो इन आकुंचनों में आकर भाषा का

---

१. ली ह्वोर और विल्लर्ड वान् ओर्मान् क्वाइन इस मत के प्रमुख प्रतिपादक हैं। ओस्वाल्ड स्पेंग्लर दो सस्कृतियों को भी सर्वथा पृथक् वृत्तों के रूप में देखता है, जिनके सम्पूर्ण ग्रहण, चिन्तन और कल्पना-विधाएँ ही सर्वथा भिन्न और परस्पर असंवादी होती हैं। किन्तु स्पेंग्लर ने अपनी संस्कृति से भिन्न अन्य संस्कृतियों पर भी विचार किया है, इस प्रकार वह चैतन्य में एक संस्कृति और विद्यमान अन्य सब सँस्कृतियों से व्यापकतर अवधारण की सामर्थ्य सिद्ध है।

रूप लेता है। इस प्रकार भाषा तीन स्तरीय अस्तित्व को, दूसरे शब्दों में भिन्न-भिन्न स्तरों के तीन अस्तित्वों : वैयक्तिक अहंकारोपाधिमूलक प्रतीकव्यवस्था, निर्वैयक्तिक अहंकारोपाधि-मूलक प्रतीक-व्यवस्था और निरहंकार बुद्ध्युपाधिमूलक वाक्-तत्त्व[1] को प्रकट करती है। किन्तु यदि इस तीसरे स्तर को छोड़ भी दें तो भी वास्तविक भाषाओं के रूप में व्यवत्युत्तर बुद्धि का अस्तित्व असन्दिग्ध है, ठीक इसी प्रकार कला-रूपों दर्शन-व्यवस्थाओं, संस्कृतियों आदि के रूप में अन्य प्रकारक उपाधियों का अस्तित्व भी असन्दिग्ध है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इनका अदेश-कालिकता से क्या सम्बन्ध है। क्योंकि देश और काल दोनों इनके अस्तित्व के घटक होते हैं। किन्तु यह सही नहीं है। उदाहरण के रूप में भाषा को ही लें—किसी भाषा का देश और काल, त्रिकाल में और सर्वत्र बोले और लिखे गये, वाक्य कहे जा सकते हैं। किन्तु ये भाषा के 'संसारावतरण' के लिए अनिवार्य होने पर भी उसके स्वरूप से अभिन्न नहीं है, जैसाकि इस बात से देखा जा सकता है कि बोले और लिखे वाक्यों की संख्या और काल-विस्तार किसी परिमाण को तो बताते हैं, किन्तु भाषा के परिमाण को नहीं बताते, क्योंकि 'भाषा का परिमाण' इस पद का कोई संगत अर्थ ही नहीं हो सकता।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि चैतन्य के ये अतिवैयक्तिक स्तर चैतन्य के आत्मोन्मुख निवर्तत के उस प्रथम चरण में ही आविर्भूत हो जाते हैं, जिसमें वह विषय को प्रेक्ष्य रूप में अपने से पृथक् स्थापित कर देता है। अब वह अपने ग्रहण या अपने विषयावधारण में ही अतिवैयक्तिक नहीं होता, बल्कि इसके अनुरूप इसके विषय भी अतिवैयक्तिक या सामान्य होते हैं। इसके विपरीत विषयाविष्ट (पाशव) चैतन्य के विषय वैयक्तिक ही नहीं, आणविक भी होते हैं। इसलिए इसे सामान्य विषय तो गम्य होते ही नहीं, इसके लिए ऐन्द्रिक विषयों का विस्तार भी सद्यःप्रदत्त से आगे नहीं होता। ये प्रस्तुत प्रदत्त में ही निश्शेष हो जाते हैं, बल्कि मानवीय चैतन्य : निर्वतित

---

१. 'परावाक्' भर्तृहरि का पद है, जो शब्द-ब्रह्म को सृटि का मूल मानता है। मैं यहाँ भर्तृहरि का समर्थन नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि मैं सब चिद्वृत्तियों को 'बौद्धिक' में अध्याहार्य नहीं मानता हूँ, और परावाक् को मैं पराबुद्धि : महत् : का ही पर्याय मानना उचित समझता हूँ। संभव है भर्तृहरि के सम्बन्ध में कहा जाय कि उसका 'वाक्' शब्द परा-बुद्धि का पर्याय नहीं है, किन्तु तब मेरा प्रयोग भर्त्तृहरि के प्रयोग से भिन्न है, क्योंकि मैं इसका प्रयोग पराबुद्धि के अर्थ में ही कर रहा हूँ जो वाक् की मूल है।

चैतन्य : के प्रस्तुत ऐन्द्रिय विषय भी परिप्रेक्ष्यात्मक होते हैं, अर्थात् प्रस्तुत प्रदत्त इनके पक्ष के रूप में असंख्य पक्षों की सापेक्षता में अवस्थित होता है और ये अन्य पक्ष वास्तव या संभाव्य अन्य द्रष्टाओं के समाज का आक्षेप करते हैं। इस प्रकार इन विषयों की विषयता या सामान्यविषयिनिष्ठता (इंटर-सब्जेक्टिविटी) विषय के निरपेक्ष वस्तुत्व का चैतन्य में निर्भासन नहीं है, बल्कि यह स्वयं चैतन्य का आत्मोन्मुख निवर्तन में विषय-ग्रहण है, जो विषय-पक्ष में विषय-निष्ठता को और विषयी-पक्ष में अतिवैयक्तिकता : सार्वजनीनता : को आविर्भूत करता है। निवर्तित चैतन्य के इसी स्तर पर भाषा विज्ञान कला धर्म नीति आदि का आविर्भाव होता है। ये निवर्तन के और आगे के चरण है, जिनमें विषयावधारण के विषयी : भाषा विज्ञान कला-व्यवस्था धर्म-व्यवस्था नीति-व्यवस्था आदि : विषय बनते हैं, और व्यापकतर विषय-दृष्टि को प्रस्तुत होते हैं। ये विषय-भूत विषयी कम विषयनिष्ठ नहीं होते, बल्कि अधिक विषयनिष्ठ होते हैं, क्योंकि जैसा हमने पीछे देखा है, विषयता : विषय-तत्त्व : का आविर्भाव ही चैतन्य के विषय से निवर्तन के साथ होता है। परिणामस्वरूप चैतन्य जितना ही अन्तरोन्मुख निवर्तित होता है, उतना ही उसके विषयों का तत्त्व (दैटनेस) परिशुद्ध होता है।

३. पारदर्शिता—इससे अभिप्राय है : आकार और अन्तर्वस्तु की अन्योन्यात्मकता और परस्पर प्रकाशकता। भाषात्मक अभिव्यक्ति में यही विश्लेषणात्मक वाक्य का रूप ले लेता है। जिस सीमा तक कोई विषय विश्लेषणात्मक है, उसी सीमा तक वह अपारदर्शी है और परिणामतः उसी सीमा तक उसमें निवर्तनोन्मुखता के अन्य लक्षणों विषय-निष्ठता आदि का अभाव रहता है। 'यह मेज़ है' वाक्य में 'यह' और 'मेज़' का सम्बन्ध आगन्तुक है, 'यह' और 'मेज़' परस्पर प्रकाशक नहीं है, जबकि 'मेज़ देश-कालात्मक है' में 'मेज़' और 'देशकालात्मक' में अन्योन्यात्मकता और परस्पर प्रकाशकता है। इसमें अपारदर्शिता इसके संवेदात्मक घटक के कारण है, और इसी में इसकी विषयिनिष्ठता भी है; उदाहरणतः इनमें वाक्य की प्रमाणीकरणीयता का स्वरूप देखें—'यह अपेक्षित संवेदों के घटित होने के द्वारा प्रमाणीकरणीय है।' यह कथन एक पक्ष में विश्लेषणात्मक और दूसरे में संश्लेषणात्मक है, इसकी विश्लेषणात्मकता इसके आत्मोन्मुख पक्ष में है, और संश्लेषणात्मकता बहिर्मुख पक्ष में अर्थात् वास्तव संवेदों के द्वारा इसका प्रमाणीकरण करने में है। प्रमाणापेक्षा का यह वास्तव संतोषन स्पष्टतः विषयिनिष्ठ भी है और अपारदर्शी भी, यह सन्दर्भ विषयनिष्ठ प्रामाणिकता का प्रकाश इस प्रज्ञप्ति के अन्तरोन्मुख पक्ष में अन्तर्भुक्त होकर ही ग्रहण करता है।

४. मननीयता—मनन का सन्दर्भ चैतन्य के ज्ञान-पक्ष में न होकर इच्छा-पक्ष में है। ज्ञान और इच्छा-पक्षों में भेद-ग्रहण भी वास्तव में चैतन्य की आत्मोन्मुख वृत्ति में ही होता है, विषय-वृत्तिक : विषयाविष्ट : चैतन्य समग्रतः विषय को समर्पित होता है। इच्छा ज्ञान की समकक्ष वृत्ति है, और ज्ञान के समान ही यह विषयोन्मुख होती है। यह भी कहा जा सकता है कि चैतन्य का विषयोन्मुख सभी प्रकार का प्रवर्तन आत्मसम्बद्ध अभाव की पूर्ति के प्रसंग में ही होता है, जगत् का आविर्भाव अविद्या में देखने का संभवतः यही अर्थ है। किन्तु यहाँ वह प्रसंग विचार्य नहीं है। उदाहरणतः ज्ञान-पक्ष में रसना वस्तु का विनिश्चय मधुर के रूप में और इच्छा-पक्ष में सन्तोषक के रूप में करती है। किन्तु निर्वतित चैतन्य जब इस अभाव और इसकी पूर्ति के स्वरूप को विमर्श का विषय बनाता है, तब वह मननात्मक होता है। इस प्रकार मननीय विषय इच्छित विषय नहीं, बल्कि विषय से परिभाषित इच्छा होती है : मननीय विषय भोजन नहीं, भोजन की आकांक्षा होती है : और क्योंकि इच्छा आत्म-सम्बद्ध अभाव है, इसलिए अन्ततः आत्म ही मनन का विषय होता है। इस प्रकार इच्छा मनन का विषय केवल निर्वतित चैतन्य के लिए ही बनती है, दूसरे शब्दों में, निर्वतित चैतन्य की विषयभूत इच्छा आत्मसम्बद्ध अभाव के रूप में मननीय विषय होतो है। किन्तु इच्छा ज्ञान का विषय भी बन सकती है, और इसी प्रकार ज्ञान भी मनन का विषय बन सकता है, इसलिए इसमें 'मनन' का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में, किसी भी वृत्ति के मनन का विषय होने के लिए उसका ज्ञान का विषय होना आवश्यक है, यही विषय आत्म-सम्बद्ध होकर मनन का विषय बनता है। यह बात ज्ञान की मननीयता का आशय समझ लेने पर और स्पष्ट होती है : ज्ञान आत्मोन्मुख निवर्तन में अपना विषयकरण करता है, किन्तु यही ज्ञान आत्म-सम्बद्ध रूप में : अन्वेष्य रूप में : मननीय विषय होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मननविषयभूत ज्ञान अपने आकार से नहीं, बल्कि अपने विषय से परिभाषित होता है. अर्थात् ज्ञान अब अन्तरोन्मुख वृत्ति में नहीं रह कर अपने विषय के साथ मनन के लिए प्रस्तुत होता है, क्या ज्ञातव्य है, यह प्रश्न होता है। यहाँ अन्तरोन्मुखता की वृत्ति मननात्मक होती है।

यहाँ 'आत्मसम्बद्ध' पद में 'आत्म' का क्या अर्थ है? आत्म का यहाँ वही अर्थ है जो शंकर के 'मैं संदेह करता हूँ' में 'मैं' का है। अर्थात यह अहं-प्रत्यय है। किन्तु यह अहं-प्रत्यय तब मूलतः रूपान्तरित हो जाता है, जब यह मननीय होता है, क्योंकि अब यह ज्ञान की अन्तरोन्मुख वृत्ति को विषय रूप में प्रस्तुत अपना ही इतर, और विषयी रूप में मात्र आकार नहीं रहता, बल्कि अब यह अपनी सभी वृत्तियों की अन्तर्वस्तु से परिभाषित होता हुआ इनसे अपने सम्बन्ध का विमर्श करता है। इस स्वरूप की

प्रखरतम अभिव्यक्ति ऐसे पदों में होती है ''मो सम कौन कुटिल खल कामी'', अथवा 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानामि पापं न च मे निवृत्तिः', अथवा 'येनाहं नामृता स्याम, किमहं तेन कुर्याम्' आदि। जैसा कि देखा जा सकता है, इनमें आत्म उन अन्तर्वस्तुओं के साथ : इच्छाओं, कार्यों, अन्वेषणों के साथ : परिभाषित है, जो ज्ञान में तटस्थ प्रेक्ष्य-विषय होते हैं, मनन को प्रदत्त यह विषय भी द्वन्द्वात्मक है, किन्तु इस द्वन्द्वात्मकता का स्वरूप भिन्न प्रकार का है, यह द्वन्द्व प्राप्त और अन्वेष्य, सिद्ध और साध्य तथा हेय और उपादेय-रूप होता है। जो भी विषय इस द्वन्द्वात्मकता के साथ प्रस्तुत होते हैं, वे सब आत्मसम्बद्ध अभाव के बोध में जन्म लेते हैं और चैतन्य की मननात्मक प्रत्यङ्मुखता को प्रस्तुत होते हैं। किन्तु क्योंकि यह प्रस्तुति ज्ञान-वृत्तिक चैतन्य को नहीं होती, इसलिए यह प्रेक्षण-प्रेक्ष्यात्मक, अथवा विषयि-विषय रूप भी नहीं होती, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह विषयिनिष्ठ होती है। वास्तव में 'विषयनिष्ठता-विषयिनिष्ठता' आदि पदों का प्रयोग प्रायः अविचारपूर्वक ही होता है। जैसाकि हमने पीछे देखा, विषयनिष्ठता वास्तव में विषय-मुक्त अन्तरोन्मुख चैतन्य के विषयकरण का व्यापार होता है और विषय की सार्वजनीनता : सामान्यता : इस वृत्ति को प्राप्त चैतन्य द्वारा आणविक-वैयक्तिक उपाधियों के अतिक्रमण का फल होती है। जबकि इच्छा व्यक्तिनिष्ठ : विषयिनिष्ठ : होती है, किन्तु संवेद उससे भी अधिक विषयिनिष्ठ होता है। परिणामतः गोचर घट गोचरता की संभावनाओंका अधिष्ठानभूत सार्वजनीन घट नहीं होता, गोचर विषय वास्तव में अन्तरोन्मुख चैतन्य के माध्यम से द्रष्टा के लिए सार्वजनीन घट-विषयक संकेत बनता है। लोक-बुद्धि (कामन सेंस-ओपीनियन) गोचरता को सत् से अभिन्न नहीं, तो सत् की कसौटी तो मानती ही है, उसी के अनुसरण में बहुत से दार्शनिक भी बुद्धिगम्य और विवेक-गम्य विषयों को विकल्पमात्र और इन्द्रियगम्य विषयों को सद्वस्तु मानते हैं। इस सम्बन्ध में हम अभी विचार करेंगे, किन्तु यह तो कोई भी अस्वीकार नहीं करना चाहेगा कि 'यह घट है' प्रज्ञप्ति से '२+२=४' प्रज्ञप्ति अधिक विषयनिष्ठ और इस प्रकार सार्वजनीन है। इस प्रकार 'विषयनिष्ठता' और 'गोचरता' पर्यायवाची तो नहीं ही हैं।

यहाँ यह स्मरणीय है कि 'विषयिनिष्ठता' और 'विषयनिष्ठता' पद यद्यपि विपरीतार्थक हैं, किन्तु 'अविषयिनिष्ठता' पद 'विषयनिष्ठता' का समानार्थक नहीं है, जैसाकि हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होना चाहिए, क्योंकि 'विषय निष्ठता' केवल ज्ञानात्मक वृत्ति का फलन (फंक्शन) है। किन्तु मननात्मक वृत्ति के ज्ञानात्मक नहीं होने से इसके बोध विषयनिष्ठ नहीं होते, किन्तु अविषयिनिष्ठ : सामान्य : होते हैं। इसके स्पष्टीकरण के लिए चैतन्य के व्यापार की एक अन्य विधा को यहाँ

हम संक्षेपत: देखेंगे, जो विषयिनिष्ठता में अधिष्ठित होकर भी विषयिनिष्ठ नहीं होती, यद्यपि यह विषयनिष्ठ भी नहीं होती। यह विधा काव्य-कलाओं में व्यक्त होती है। इस विधा में चैतन्य आत्मोन्मुख वृत्ति में विषयिनिष्ठ वृत्तियों : इच्छा उद्वेग उत्कंठा आदि : का विषयिनिष्ठ-सामान्य (सब्जेक्टिव यूनीवर्सल) के रूप में अवबोधन (कांप्रीहेंड) करता है और इसी रूप में उसे ऐन्द्रिक माध्यम में अभिव्यक्ति देता है। इसी से कविता चित्र गान आदि प्रज्ञप्त्यात्मक (प्रेपोजीश्नल) नहीं होते : किन्तु तब भी वे चीत्कार या आह् रूप: अर्थात् व्यक्तिनिष्ठ आणविक भी नहीं होते, बल्कि वे अन्त: प्रगल्भ-अभिव्यंजनात्मक आकृति-रूप (फिज्योग्नामिक) होते हैं।

किन्तु मनन या मूल्य-विमर्श विषयिनिष्ठ का सामान्यात्मक अवगमन भी नहीं है, जैसा कि वह विषयनिष्ठ का सामान्यात्मक अवगमन नहीं है। इस बोध में एषणाएँ : ऐन्द्रिक और मानसिक आकांक्षाएँ : न तो ज्ञान-विषय के रूप में अवधार्य होती हैं जैसी वे मनोविज्ञान में होती हैं, और न विषयिनिष्ठ-सामान्यों के रूप में अव-बोध्य, जैसी वे काव्य-कलाओं में होती हैं; बल्कि आत्मसम्बद्ध अर्थों के संकेतों के रूप में मननीय होती हैं। क्योंकि इच्छाएँ-एषणाएँ अभाव की संकेत और पूर्ति के लिए प्रेरक-रूप होती हैं, इसलिए मनन सिद्ध-साध्य का सन्दर्भ होता है, वस्तु-अवस्तु का नहीं।

यहाँ 'आत्मसम्बद्ध' पद से व्यक्तिनिष्ठता-असार्वजननीनता को उपपन्न मान कर आपत्ति की जा सकती है कि नैतिक मूल्य तो अनिवार्यत: सामाजिक : सामाजिक प्रथा-मूलक : होते हैं, तब उपर्युक्त विवेचन इन मूल्यों का आकलन किस प्रकार करेगा ? इसके स्पष्टीकरण के लिए यहाँ 'सामाजिकता' के दो अर्थों में भेद करना आवश्यक है, जिनमें प्राय: ही व्यामिश्र कर दिया जाता है, ये अर्थ हैं (१) अन्य व्यक्तियों की माध्यम के रूप में, जैसे सहानुभूति में, या सहायक के रूप में, जैसे औष-धालय निर्माण के लिए, इत्यादि और दूसरा (२) नैतिक नियमों का समाज द्वारा स्थिरीकरण। इनमें जहाँ तक प्रथम का सम्बन्ध है, अन्य व्यक्तियों के माध्यम होने से नैतिक नियमों की साधना सामाजिक नही बनती, यह वास्तव में इस रूप में समाज की आधार कही जा सकती है, समाज-मूलक नहीं; जहाँ तक दूसरे का सम्बन्ध है, कोई सामाजिक नियम तब तक नैतिक मूल्य नहीं बनता, जब तक वह नैतिकमूल्य-बोध में प्रतिष्ठित नहीं होता। (वास्तव में सामाजिक प्रथाओं के भी नैतिक मूल्य के रूप में स्वीकृत होने के लिए पहले स्वयं समाज का नैतिक मूल्य के रूप में बोध आवश्यक है।) 'लें' सड़क पर बायें चलें' और 'यदि कोई सड़क पर कराह रहा हो, तो उसकी सूचना पुलिस को दें' दोनों सामाजिक विधान हैं, किन्तु इनमें दूसरे को इस प्रकार रूपान्तरित किया जा सकता है कि वह नैतिक मूल्य बन सके, जैसे—किसी के

दुःख में उसकी सहायता करना मानवोचित है; जबकि पहले को इस प्रकार रूपान्तरित नहीं किया जा सकता।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'मानवोचित' को कुछ लोग विषयिनिष्ठ कहेंगे, वास्तव में इसी रूप में मूल्य-बोध को विषयिनिष्ठ कहा जाता है, किन्तु 'मानवोचित' की अन्तर्वस्तु : क्या मानवोचित है, और क्या नहीं : के निर्णय में वैयक्तिक सांस्कृतिक विषयिनिष्ठता अंशतः घटक होती है, जबकि इसका आकार इस प्रकार विषयिनिष्ठ नहीं होता, यह प्रत्यङ्‌मुख बुद्धि के मननात्मक आयाम में उसी प्रकार मौलिक है, जिस प्रकार विषयकरण मौलिक है।

इस प्रकार 'आत्मसम्बद्धता' का अर्थ 'व्यक्तिपरकता' नहीं है, इसमें व्यक्ति-समाज ये कोटियाँ ही अप्रासंगिक हैं, 'आत्म' का अर्थ व्यक्ति नहीं है, इसी से समाज का भी यहाँ कोई प्रसंग नहीं है। चैतन्य का आत्मोन्मुख किसी भी प्रकार का संक्रमण : वह ज्ञानात्मक हो, कलात्मक हो, या मननात्मक हो, आणविकता का अतिक्रमण करता है : ज्ञान में विषयिनिष्ठता का, कला में वैयक्तिक विषयिता (पर्सनल सब्जेक्टिविटी) का और मनन में एषणाओं का; इसी से जो लोग आध्यात्मिक मूल्यान्वेषण : जैसे भक्ति या साधना : को व्यक्तिपरक समझते हैं, वे 'आत्म' और 'व्यक्ति' को एक समझने की भूल करते हैं। वास्तव में भक्ति ईश्वर में, मोक्ष निरूपाधिक चैतन्य में और नीति समाज में वैयक्तिक अहंकार के अतिक्रमण की साधना है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ज्ञान वस्तु-तत्व में वैयक्तिक अहंकार के अतिक्रमण की साधना है।

किन्तु चैतन्य की इन आत्मोन्मुख विधाओं में से एक : ज्ञानात्मकः अन्य दो से मौलिक रूप से भिन्न कही जा सकती है। इनमें प्रथम में जबकि चैतन्य सत् के प्रकाशन द्वारा अपनी सिद्धि पाता है : सत्य बनता है : शेष दो में वह अपने ही निहि-तार्थों का व्याख्यान करता है। किन्तु यहाँ विचारणीय है कि 'ज्ञान द्वारा सत् के प्रकाशन' का क्या अर्थ है ? क्या ज्ञान सत् नहीं है ? यदि वह सत् नहीं है तो फिर वह प्रकाशन कैसे करेगा ? तब क्या यह नहीं कहना चाहिए कि केवल सत् ही है, और प्रकाशन उसके लिए अप्रासंगिक है, भौतिकवाद इसी प्रस्थापना का नामान्तर है। इसके अनुसार, प्रकाशकत्व का सत् ही में से, प्रकाश-निरपेक्ष प्रक्रियाओं के द्वारा ही, आविर्भाव होता है। किन्तु यदि यह मान भी लें तो भी आविर्भाव के पश्चात् तो यह प्रकाश ही है, और यह अप्रकाशात्म सत् नहीं है। भौतिकवादी इस प्रकाश को भी स्वरूपतः अप्रकाशात्म ही बताते हैं, जैसे रासायनिक क्रियाओं से उत्पन्न रासायनिक गुण। किन्तु यह एक मौलिक दृष्टि-दोष है, क्योंकि यह प्रकाश 'सत्' से प्रतिमुख होकर

उसे स्वरूपस्थित से प्रस्तुत और जिज्ञास्य बना देता है, इतना ही नहीं, इसके भीतर-बाहर 'असत्' को उत्पन्न कर इसकी अभेद्यता को खोखला बना देता है; वह इसे एक संभावना सत्यापनीय वस्तु-कल्प, उससे भी आगे व्यंग्यार्थ-उत्प्रेक्षार्थ का रूप दे देता है। इसलिए इसे रासायनिक गुण क ना इसके स्वरूप को समझने की असमर्थता प्रकट करना है। और यदि इसके स्वरूप का विवेक कर लिया जाये, तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि किस की उत्पत्ति कब हुई—पहले अप्रकाशत्म सत् उत्पन्न हुआ या कि प्रकाश उत्पन्न हुआ ? ये 'कब' और 'अब' काल-वाचक पद हैं, जो सत् को अवगत नहीं हो सकते और प्रकाश के लिए ये केवल निर्धारण और उप धि हैं।

किन्तु 'सत्' और 'प्रति-सत् इन को दो मानने पर सर्वप्रथम समस्या इनके सम्बन्ध की होगी—क्या वे एक दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष हैं, या एक अपेक्षी और दूसरा निरपेक्ष है या दोनों परस्पर सापेक्ष हैं ? दर्शन के इतिहास में इस समस्या के समाधान के प्रयत्न निरन्तर होते रहे हैं। यहाँ हम इन प्रयत्नों में कोई योगदान नहीं करेंगे, अपितु हम केवल इस द्वैत की स्वीकृति से सम्बन्धित एक दूसरी समस्या की ओर संकेत करेंगे। समस्या यह है कि हम सत् को कोई भी नाम कैसे दे सकते हैं ? इसे 'मौलिक' कहना इन्द्रियोपाधि को मानदण्ड बनाना है, और प्रत्यय-विषय कहना बुद्धच् पाधि को। किन्तु जब हम इस निर्धारण पर विचार करते हैं, तब पाते हैं कि ये दोनों विषयता के दो रूप मात्र हैं, और विषय उसी सीमा तक अपने स्वरूप की उत्तानता पाता है, जिस सीमा तक चैतन्य आत्मोन्मुख निवर्तन में उसे आत्मसात् कर पाता है। यह विज्ञान के इतिहास से देखा जा सकता है। विज्ञान की यात्रा निरन्तर संश्लेषणात्मक : आगन्तुक और बाह्यत : सम्बन्धित : से विश्लेषणात्मक अर्थात् अनिवार्य और अन्तःसम्बद्ध को सिद्ध करने की ओर रही है; इसी से विज्ञान का आदर्श भौतिक विज्ञान रहा है, जो अपने विषय को उन सभी निर्धारणों से अधिकाधिक मुक्त करने में सफल हो चुका है, जो प्रत्यय की पारदर्शी विश्लेषणात्मकता और अनिवार्यता में अंतर्भूत नहीं किये जा सकते। इसीसे मनोविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान और प्राणिविज्ञान केवल इस अर्थ में ही विज्ञान हैं कि ये भी उसी आदर्श को लेकर अग्रसर हैं, और अपनी विषय वस्तु को इस प्रकार निर्धारित करने का प्रयत्न करते हैं कि वह उस आदर्श की कसौटी पर यथासम्भव पूरी उतर सके। **किन्तु विज्ञान में चैतन्य की यह आत्मोन्मुखता आत्मार्थ नहीं हो कर परार्थ : विषयार्थ: होती है, दूसरे शब्दों में, विज्ञान में ज्ञान अपना अतिक्रमण विषय में करता है, जबकि दर्शन में ज्ञान अपना अतिक्रमण अपनी आत्मोन्मुख गति में ही करता है। इस प्रकार वह विज्ञान के विपरीत, विषय को उसकी मूलाग्र अवधारणाओं में, अवधारणाओं को उनकी**

मूलाग्र चिद्वृत्तियों : चित् की उपाधियों : में, और इन उपाधियों को उनके मूलाग्र निरूपाधिक चैतन्य में आविर्भूत होते देखता है। इस प्रकार दर्शन इस आरम्भ विन्दु पर प्रतिष्ठित हो कर सब लोकों : गोचर लोक प्रत्यय-लोक भावना-लोक (ललित कलाओं के) और मनन लोक : की सृष्टि होते देखता है और उसका विमर्श तथा मनन करता है।

ऐसा नहीं है कि सभी दार्शनिकों में दर्शन के स्वरूप के सम्बन्ध में यह बोध समान-रूप से स्पष्ट रहा है। भारत में उपनिषदों और औपनिषदिक दर्शनों : वेदान्त सांख्य प्रत्यभिज्ञा अंशतः शून्यवाद और विज्ञानवाद में तथा पश्चिम में सर्वाधिक प्रखर रूप से प्लेटो डेकार्ट स्पिनोजा कांट, शिलर फिख्ते हेगल और हुस्सर्ल आदि में, और वस्तुवादी प्रवृत्तियों के बावजूद अरस्तू में दिखायी देता है। भारत में न्याय वैशेषिक और मीमांसा तथा पश्चिम में भौतिकवादी ऐन्द्रिक प्रत्यक्षवादी (पाजिटिविस्ट्स) और अनुभववादी दर्शन-सम्प्रदाय दर्शन के वास्तविक स्वरूप और प्रयोजन से अनभिज्ञ दिखाई देते हैं, (यद्यपि प्रत्ययवादी दार्शनिक भी बुद्ध्युपाधि को ही चित का स्वरूप मान कर इस उपाधि के स्वरूप को देखने में असमर्थ रहते हैं।) किन्तु पूर्वोक्त ऐन्द्रिकतावादी सम्प्रदाय भी नीति धर्म कला सबके सम्बन्ध में प्रश्नों का उत्तर देने को, अपनी व्यवस्था में इनका आकलन करने को, अपना कर्त्तव्य स्वीकार करेंगे, वह उत्तर चाहे किसी भी प्रकार का हो। यह तथ्य दर्शन के सम्बन्ध में हमारी उपर्युक्त स्थापना की पुष्टि करता है। दर्शन के विपरीत विज्ञान अपने नियत विषय के निर्धारण के बाहर नहीं जा सकता, क्योंकि विज्ञान का सम्बन्ध ज्ञान के मूल से नहीं हो कर ज्ञान-विषय से होता है।

व्याख्यान पर हुए प्रश्नोत्तरों का विवरण

डा० धर्मेन्द्र गोयल ने मेरे व्याख्यानों के क्रम में जो आपत्तियाँ उठायीं उनमें से निम्नलिखित तीन मुख्य थीं—

१—"आपने चैतन्य की ही बात की है, जबकि इसकी उत्पत्ति भौतिक तत्त्व में से बहुत पीछे हुई। मनुष्य की उत्पत्ति तो अभी बहुत थोड़ा समय पहले हुई। इसके अतिरिक्त, आपने मूर और रसल द्वारा प्रत्ययवाद के खण्डन में दी गई प्रबल युक्तियों का भी उत्तर नहीं दिया।

उत्तर—

वास्तव में मैं प्रत्ययवादी नहीं हूँ, जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होना

चाहिए। जहाँ तक भूत-तत्त्व और उसमें से चेतना के उत्पन्न होने का प्रश्न है, उसका कुछ और स्पष्टीकरण यहाँ प्रसाङ्गिक होगा—पहले केवल भूत-तत्त्व था और अब भी उसीका व्यापकतर साम्राज्य है, कि यह मेरा दायाँ हाथ है, यह बायाँ, दायें हाथ में पेन है आदि, इस सब का कौन निषेध करता है? किन्तु यदि इसको स्वीकार करने की ही बात है, तब और कोई बात ही क्या रह जाती है। और दर्शन के लिए अवकाश कहाँ रह जाता है? किन्तु तब भी दार्शनिक चिन्तन की प्रवृत्ति है, वह क्या है? मैं कुछ दार्शनिकों के समान इसका औचित्य यह कह कर नहीं दूँगा कि दर्शन का कार्य इनके ज्ञान का प्रामाण्य देखना है, इसलिए दर्शन का विचार्य चेतना है। स्वयं मूर और रसल भी दर्शन का कार्य यही मानते हैं। किन्तु यदि हाथ है, और पेन है, और इनका हमें ज्ञान है, तब इसके प्रामाण्य में क्या दिक्कत है? इसकी न हाथ को अपेक्षा है और न ज्ञान को। अतः दर्शन का यह भी कार्य नहीं है। वस्तु में और उसके ज्ञान में प्रामाण्य का व्यवधान उत्पन्न करने में ही क्या दार्शनिक उपलब्धि है? वास्तव में न दर्शन का कार्य भूत-तत्त्व की व्याख्या करना है और न इसके ज्ञान के प्रामाण्य में सन्देह करना। जब शंकर ने कहा कि केवल ब्रह्म ही सत् है, तब उसे इसमें कोई सन्देह नहीं था कि घट और पट संसार में है। कम से कम मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है। किन्तु तब इस असन्दिग्धता का कोई अर्थ और महत्त्व भी नहीं है।

इसके स्पष्टीकरण में यहाँ एक उदाहरण देना चाहूँगा—नीत्शे ने डारविन के विकासवाद के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए तर्क दिया था कि बन्दर और मनुष्य के बीच कोई तारतम्य नहीं है। मनुष्य का तत्त्व अपना अतिक्रमण करने (सेल्फ ओवरकमिंग) में है, जबकि पशु अपनी प्रकृति में बन्दी है। किन्तु साथ ही उसने कहा कि 'पुच्छ-विषाण-हीन सब प्राणी मनुष्य नहीं हैं, ये सब बन्दर ही हैं, मनुष्य केवल वही है, जो अपनी प्रकृति का अतिक्रमण करता है, जो पशु की परम्परा में असम्भव है।'

स्पष्टतः नीत्शे यहाँ घटना-क्रम की बात नहीं कर रहा है, अर्थ की बात कर रहा है। यह अर्थ ही यहाँ दर्शन के लिए जिज्ञास्य है: प्रकृति-निबद्ध और प्रकृति का अतिक्रमण करने वाले के बीच अर्थतः कोई तारतम्य नहीं हो सकता। इसी अन्तर को मैंने दूसरे ढंग से कहा, मैंने कहा—'पाशव चेतना विषयाविष्ट है, मानव-चेतना विषय-निर्वर्तित।' डारविन घटना-क्रम का विवरण दे रहा था, नीत्शे का और मेरा प्रतिपादन चैतन्य की संरचना का आशय उद्घाटन करने का प्रयत्न है। यह दूसरा प्रयत्न दर्शन का कार्य है, प्रथम का सत्यासत्य इसके कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं है।

प्राणियों में भी कृमि-कीटों में और गाय, बन्दर आदि में अन्तर दिखायी देता है जिसे हमने 'चैतन्य की विषय से मुक्ति के प्रयत्न के चरण' कहा है। यह प्रतिपादन घटना-क्रम का विवरण नहीं देकर अर्थ की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। यही दर्शन का क्षेत्र है।

अब हम डा० गोयल की आपत्ति के इस घटनामूलक रूप का अर्थमूलक रूपान्तरण कर इसे थोड़ा और गहराई से समझने का प्रयत्न करें। यह रूपान्तरण इस प्रकार हो सकता है :—

'इन्द्रिय-गम्य विषय विषय-निरपेक्ष वस्तुसत्-मूलक है और विषयी आगन्तुक और इस पर आश्रित है। किन्तु आप विषयी को मौलिक और विषयमूलक वस्तुसत् को आगन्तुक तथा आश्रित बना रहे हैं।'

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि मूर इन्द्रिय विषय को ही वस्तुसत् और विषयि-निरपेक्ष मानते हैं, डा० गोयल इस सम्बन्ध में पूर्णतः निश्चित नहीं हैं, किन्तु उनके मूल प्रश्न में वस्तुसत् : भूत-तत्त्व : को विषय के आधार के रूप में स्वीकार किया गया प्रतीत होता है।

मेरा निवेदन है कि मैं किसी भी विषय को विषयि सापेक्ष नहीं मानता हूँ, जैसाकि लेख में स्पष्ट प्रतिपादित देखा जा सकता है। मैं विषयी का अतिक्रमण विषय के स्वरूप में मौलिक मानता हूँ। किन्तु तब वस्तु सत् इन्द्रियोपाधि-निरपेक्ष भी होगा और वैसा होने से वह रूप-देश-काल आदि से भी विशेष्य नहीं हो सकता। वास्तव में भौतिक विज्ञान भी जिस तत्त्व का निर्धारण करता है, वह रूप-विरहित है यद्यपि देश-काल-विरहित नहीं है। किन्तु तब वह उस सीमा तक विषयि-सापेक्ष भी है, केवल यह विषयी अब इन्द्रियोपाधिक नहीं होकर बुद्ध्युपाधिक है। मैं सब उपाधियों को आगन्तुक मानता हूँ और इस प्रकार न केवल व्यक्ति को बल्कि व्यक्त्युत्तर औपाधिकता को भी आगन्तुक मानता हूँ, जैसाकि ऊपर लेख में स्पष्ट है।

तब डा० गोयल का आग्रह हो सकता है कि सत् चिन्मय नहीं अचिन्मय : भौतिक : है। इसके सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी, यदि 'भौतिक' की अवधारणा की व्यापकता उसका भी आकलन कर सके, जो चिद्रूप में प्रकाशित हैं। सत् को चिन्मय रूप में अवधारित करने पर उसका आकलन किया जा सकता है, जो अचिन्मय : विषयमूलक : सत् है, यह हम ऊपर देख ही चुके हैं। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह आकलन कारण-कार्यात्मक या किसी और ऐसी ही विधि से नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह सब न केवल दार्शनिक

पदावली में ही नहीं होगा, बल्कि यह भी कि वह विषयी को अस्वीकार करते हुए भी विषयि-मूलक निर्धारण मात्र होगा।

२—दूसरी आपत्ति थी कि 'आप 'चैतन्य' शब्द का प्रयोग वस्तु-नाम के रूप में कर रहे हैं, किन्तु चेतना कोई वस्तु नहीं है, यह मात्र एक प्रकार्य (फंक्शन) है।'

मेरा उत्तर था कि "मैं 'चैतन्य' शब्द का प्रयोग इस प्रकार नहीं कर रहा हूँ, किन्तु तब मैं इसका प्रयोग प्रकार्य के अर्थ में भी नहीं कर रहा हूं। 'प्रकार्य', 'प्रक्रिया', 'फलन' आदि शब्द आज के आंग्ल-अमरीकी दर्शन के फैशन हैं, जबकि वस्तुकरण भाषा का साधारण पूर्वाग्रह है। यह आंग्ल-अमरीकी फैशन विज्ञान के आधुनिक विकास से प्रभावित है। किन्तु स्वयं आप 'मेज़', 'कुर्सी' आदि का प्रयोग वस्तु-नामों के रूप में कर रहे हैं।'

३—मूल्यों सम्बन्धी चर्चा के प्रसंग में डा० गोयल ने कहा—'आप मूल्यों को मेज़, कुर्सी आदि के समान विषयनिष्ठ सत्ताएं मान रहे हैं, जबकि ये विषयिनिष्ठ धारणाएँ मात्र हैं।'

इस आक्षेप का उत्तर लेख में विस्तार से दिया गया है। किन्तु चर्चा के प्रसंग में मैंने कहा था कि यदि कोई कांट और कबीर को जनसाधारण की तुलना में उत्कृष्ट देख सकने में असमर्थ हो और उनके दुबलेपन को दयनीय मान रहा हो, तब उसे उसका भ्रम दिखाने का कोई उपाय नहीं है, किन्तु इससे कांट और कबीर की उत्कृष्टता विषयिनिष्ठ आग्रहमूलक नहीं हो जाती। डा० गोयल ने यह युक्ति स्वीकार नहीं की।

इसके आगे नैतिक मूल्यों के सम्बन्ध में चर्चा के प्रसंग में डा० गोयल और डा० सत्यपाल गौतम ने जो कहा वह एक पुस्तक 'दि इमर्जेंस आफ नार्म्स' के विज्ञापन में बहुत स्पष्ट ढंग से कहा गया है, अतः यहाँ उसे ही उद्धृत करूँगा। उसके अनुसार 'तर्क-युक्ति का अनुसरण करने वाले (रेशनल) प्राणियों के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार की सामाजिक स्थितियों के निर्वाह के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार के नियमों को स्वीकार करना आवश्यक होता है।' डा० गोयल और डा० गौतम के अनुसार, नैतिक मूल्य ऐसे नियमों का मनोनिवेश (इंटर्नलाइज़ेशन) मात्र होते हैं।

इसके विपरीत मेरा कहना है कि नैतिक मूल्यों का मूल नैतिक बोध में होता है, जिस बोध के स्वरूप का विवेचन पीछे मैंने 'मनन' के प्रसंग में किया है। 'सत्य बोलना चाहिए' इसमें 'चाहिए' को इस बोध से कोई पृथक् अर्थ नहीं दिया

जा सकता। इस पर डा० गौतम ने कहा—नहीं, सत्य बोलना भाषा के सफल व्यवहार के लिए अनिवार्य है, क्योंकि असत्य भाषण कथन से कथ्य को हटा देना है। इसके उत्तर में मैंने कहा कि यदि मैं दूसरों को अपने कथन की सत्यता में आश्वत रख सकता हूँ और दूसरों को सत्य बोलने के लिए प्रेरित कर सकता हूँ, तब भाषा के सफल निर्वाह में कोई कठिनाई नहीं आती। और जहाँ तक इस वाक्य विशेष का सम्बन्ध है, इसमें मेरा प्रयोजन ही यह था कि सुनने वाला मेरे कथन को असत्य होने पर भी सत्य समझे। कांट के नैतिक नियम की सार्वभौमता, जिसपर उपर्युक्त तर्क प्रतिष्ठित है, इस बात की परीक्षा के लिए है कि मेरा निर्णय नैतिक है, या नहीं, किन्तु इस परीक्षा के झंझट में तो मैं तभी पड़ूँगा न, यदि मेरी नैतिकता के प्रति कोई आस्था होगी ?

पीछे इस में संशोधन करते हुए डा० गोयल ने कहा कि 'मूल्य मानव के सर्जन होते हैं, किन्तु इनमें इस रूप में विषयनिष्ठता होती है कि किसी मूल्य को एकबार स्वीकार कर लेने पर हम उसे तोड़ने के लिए स्वतन्त्र नहीं होते।' उनके इस कथन में एक सीमा तक राल्स की पुस्तक **थीयरी आफ जस्टिस** में प्रतिपादित 'प्रथम सामाजिक समझौते के सिद्धान्त' की ध्वनि सुनाई पड़ती है। किन्तु यहाँ द्रष्टव्य है कि 'मनुष्य' से क्या अभिप्राय है ? यह वस्तुवाचक पद है, या प्रकार्य वाचक ? डा० गोयल अर्तकित रूप से मनुष्य को देह से अभिन्न मानते हुए उसे वस्तु-नाम देने में सम्भवतः कोई दोष नहीं देखते। किन्तु यदि वस्तुकरण (री-इफिकेशन) चैतन्य के लिए अयुक्त है, तो वह इन्द्रिय-गोचर के लिए और भी अधिक अयुक्त है। यहाँ केवल बौद्धों के सर्वग्रासी नैरात्म्यवाद की ओर संकेत ही करूँगा। इसके अतिरिक्त, मूल्य-सर्जन से डा० गोयल का क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं है। निश्चय ही 'मूल्य-सर्जन' 'व्यवहार कौशल के नियम' का पर्याय नहीं है। इसके अतिरिक्त, सृष्ट मूल्य' और 'प्रतिबद्धता' में क्या सम्बन्ध है ? निश्चय ही राल्स के समझौता-सिद्धान्त पर आरोपित प्रतिबद्धता 'मूल्य-सर्जन' के साथ सम्बन्धित नहीं की जा सकती। वास्तव में 'प्रतिबद्धता' स्वयं मूल्य चेतना-मूलक है, और इस प्रकार 'एकबार मूल्य-सर्जन कर लेने पर उसके प्रति प्रतिबद्धता' इस कथन का कोई संगत अर्थ नहीं बनता। वास्तव में यह तो कहा जा सकता है कि 'एक बार किसी समाज की सदस्यता स्वीकार कर लेने पर उसके नियमों के प्रति प्रतिबद्धता आवश्यक है', क्योंकि 'सामाजिक नियम' जबकि मूल्यात्मक पद नहीं है, उसे मूल्य-सम्बद्ध करने के लिए 'प्रतिबद्धता' से सम्बन्धित करना युक्तिसंगत है, किन्तु मूल्य-सर्जन से नहीं, जो स्वयं प्रतिबद्धता का आधार है।

७

धर्म-दर्शन : यशदेव शल्य

दर्शन अपने विचार-विषय के प्रामाण्य की जिज्ञासा करता है। प्रामाण्य (प्रूफ) का आधार अन्ततः कोई मूल प्रदत्त : आनुभविक अथवा तार्किक (पोस्चूलेश्नल) : होता है। किन्तु मूल प्रदत्त भी दर्शन के लिए कोई स्वतः सिद्ध-स्वतः स्पष्ट तथ्य नहीं होता, वास्तव में स्वतः स्पष्ट प्रतीत होने वाले तथ्यों को दर्शन प्राय: ही मूल प्रदतों के रूप में स्वीकार नहीं कर पाता। तो भी मूल प्रदत्त की एक सर्वस्वीकृत परिभाषा हो सकती है, और वह है : ज्ञान अथवा ज्ञेय का वह तत्त्व जिसे किसी दूसरे तत्त्व में नहीं घटाया जा सकता। यह तत्व क्या है, यह दार्शनिकों में सदैव विवादास्पद विषय रहा है : ब्रह्म, प्रकृति पुरुष, विज्ञान-क्षण, संवेद-प्रदत्त और स्वलक्षण वस्तु, ईश्वर-जीव-प्रकृति, आदि इसके कुछ उदाहरण हैं। कोई कह सकता है, ब्रह्म ईश्वर आदि दार्शनिकों द्वारा मूल प्रदत्तों के रूप में नहीं देखे गये हैं। इसके उत्तर में हम यहाँ केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि ये ऐसे मूल तत्त्वों के रूप में देखे गए हैं, जिनमें अन्य सब ज्ञान और ज्ञेय घटाये जा सकते हैं, और जो किसी अन्य में नहीं घटाये जा सकते।

किन्तु यहाँ हमारा जिज्ञास्य ऐसा तत्त्व नहीं है। यहाँ हमारा जिज्ञास्य धर्म-दृष्टि का प्रामाण्य है, अर्थात्, क्या धर्म का विषयी अथवा विषय के रूप में कोई अपना मूल प्रदत्त है, या कि यह विषयी अथवा विषय के रूप में किन्हीं अन्य तत्त्वों में घटाया जा सकता है? किन्तु यही कैसे जाना जाय कि जिसे हम 'धर्म' कह कर यह जाँच करना चाहते हैं, जिसके प्रामाण्य की परीक्षा करना चाहते हैं, वह क्या है? यह न तो विषयी रूप में उस प्रकार प्रदत्त है जिस प्रकार सुख-दुःख हैं, न विषय रूप में उस प्रकार प्रदत्त है, जिस प्रकार मिट्टी-पानी हैं। सुख-दुःख या मिट्टी-पानी मूल प्रदत्त हैं या नहीं, यहाँ यह विचारणीय नहीं है, किन्तु ये प्रदत्त हैं, यह स्पष्ट है। इन्हें हम दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित प्रदत्तों, जैसे संवेद्य आदि, से पृथक् करने के लिए असमीक्षित प्रदत्त कह सकते हैं। किन्तु धर्म या धर्म दृष्टि भी इसी

प्रकार के प्रदत्त हैं, यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु कुछ इसी प्रकार प्रदत्त हुए विना इसके बारे में विचार ही कैसे आरम्भ किया जा सकता है ? विचार आरम्भ करने के लिए यह प्रदत्त संभवतः लोक परम्परा से प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु लोक-परम्परा में इसका कोई एक निश्चित स्वरूप नहीं है, कम से कम प्रकटतः इससे सम्बन्धित लोक-परम्पराएं बहुत भिन्न-भिन्न हैं। एक ओर पौराणिक, धार्मिक परम्पराएं हैं, जिनमें कोई भी वस्तु अलौकिक तत्त्व (डीटी) के रूप में नाम ग्रहण कर लेती है और दूसरी ओर ईसाई और मुस्लिम धर्म हैं, जिनमें एक ईश्वर-संज्ञक देवता जगत् का शासक और प्रवर्तक हैं। तीसरी ओर बौद्ध धर्म है, जिसमें द्रव्यत्व या वस्तुत्व मात्र का निषेध है, और इस प्रकार ईश्वर ही नहीं, मनुष्य का आत्मा और जगत् का वस्तुत्व या द्रव्यत्व, तथा जगत्-गत विषयों का वस्तुत्व तक अस्वीकृत है।[1] कान्ट ने ईसाई धर्म के ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार करते हुए उसकी व्याख्या तर्क की सीमाओं भौतिक और नैतिक अनुभवों के अन्तर्गत दो प्रकार के तार्किक अतिक्रमणों (ट्रांसेंडेंसिस) के द्वारा की है, किन्तु बौद्ध ईश्वर और तर्क दोनों को भ्रान्तियाँ मान कर पीछे छोड़ देते हैं, और धर्म को एक सर्वथा दूसरा ही आयाम दे देते हैं। वास्तव में यह बौद्ध-दृष्टि सब औपनिषदिक धर्मों में भी देखी जा सकती है।[2] मैं समझता हूँ कि लोक-परम्परा के धर्मों और औपनिषद्-धर्मों (जिन्हें हम दार्शनिक धर्म भी कह सकते हैं) के दो विच्छेदक गुण कहे जा सकते हैं : प्रथम यह कि लोक परम्परा लौकिक-प्राकृतिक कारण-कार्य सम्बन्धों को अलौकिक यादृच्छिकता से नियम्य रूप में देखती है, और दूसरे, वह इस यादृच्छिकता का उपयोग मनुष्य की लौकिक सुख-समृद्धि के लिए करना धर्म

---

१. **शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निस्सरणं जिनैः, येषां तु शून्यतादृष्टिस्तान-साध्यान् बभाषिरे।** (नागार्जुन मूलमाध्यमिक कारिका, १३।८) भगवान् बुद्ध ने शून्यता का उपदेश हमें बुद्धि की समस्त कोटियों, धारणाओं और दृष्टियों से ऊपर उठने के लिए किया है, न कि उनमें फँसने के लिए। शून्यता का अर्थ है, सब दृष्टियों का त्याग; जो शून्यता को भी सत् कोटि द्वारा पकड़ कर उसके अस्तित्व या नास्तित्व का प्रतिपादन करना चाहते हैं, उनको भगवान् ने असाध्य कहा है।

२. **यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातम-विजानताम्।** केनोपनिद २।। जो ब्रह्म को अविज्ञेय मानता है, वही इसे जानता है, जो इसे ज्ञात मानता है, वह इसे नहीं जानता। वह ज्ञान से (बुद्धि से) उपहितों को अज्ञात रहता है, उसको उत्तीर्ण करने वालों को उसका अवगमन होता है।

का उपयोग मानती है। गणेश-पूजा, हनुमान-पूजा आदि इसके उदाहरण हैं। इसके विपरीत दार्शनिक परम्परा इच्छा को केवल लौकिक ही मानती है और इस प्रकार धर्म के लौकिक रूप को भी लौकिक-प्राकृतिक साध्योन्मुख ही मानती है, और दूसरे, वह धर्म का उपयोग या प्रयोजन सब लौकिक प्रयोजनों के त्याग और अतिक्रमण में और इस प्रकार व्यक्तित्व के अलौकिकीकरण : अतिक्रमण : में देखती है। बौद्ध नैरात्म्यवाद में इस अभिनिवेश की पराकाष्ठा है, क्योंकि वह ब्रह्म आदि की अवधारणा में भी किसी न किसी प्रकार से मनुष्य की अपने व्यक्तित्व : अहंकार : को बनाये रखने का लोभ देखता है और परिणामतः वह किसी भी स्थायी सद्वस्तु का निषेध करता है। उसके दार्शनिक प्रतिपादनों के पीछे उसका यह धार्मिक प्रयोजन है। मुस्लिम, ईसाई और वैष्णव आदि धर्म इन दो कोटियों के बीच में रखे जा सकते हैं। ये मध्यवर्ती धर्म' धार्मिक चेतना के दो स्तरों के बीच के स्तर के रूप में इन कोटियों में एक तारतम्य को सूचित करते हैं। किन्तु यह तारतम्य ऐतिहासिक विकासात्मक नहीं होकर संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल), अथवा कहें बोधमूलक है। यदि यह सही हो तो इसका अर्थ होगा कि धर्म के सभी रूप चेतना के एक ही मौलिक भाव या अभिनिवेश को व्यक्त करते हैं, अन्यथा यह कहना होगा कि चेतना के सर्वथा दो या तीन भिन्न भावों को एक ही नाम दिया जा रहा है। किन्तु हमारे लिए यहाँ यह विचारणीय प्रश्न नहीं है कि किस प्रकार लोक-धर्म और दार्शनिक धर्म एक ही बोध के दो स्तर हैं; यहाँ हम दार्शनिक धर्म को धर्म का शुद्धतम रूप मान कर उसके अनुसार ही धर्म का स्वरूप समझने का प्रयत्न करेंगे।

किन्तु, धर्म का शुद्ध स्वरूप या अर्थ क्या है, यह निर्णय कैसे हो सकता है? वास्तव में यह समस्या दर्शन के लिए केवल धर्म के प्रसंग में ही नहीं है, बल्कि उसके विवेच्य किसी भी विषय के लिए है, क्योंकि दर्शन किसी भी विषय को उसकी अवधारणा और अनुभूति के मूल से ही समझता है। इस प्रकार ऐन्द्रिक विषय भी उसके अपने स्वरूप में नहीं (यदि उसका कोई ऐसा स्वरूप हो तो भी) बल्कि इन्द्रिय-विषयानुभूति में, उसके अवधारणात्मक मूल में, दर्शन के लिए विचारणीय होता है। किन्तु धर्म के सम्बन्ध में इस आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि धर्म अपनी मूल धारणा में पौराणिक नहीं हो कर दार्शनिक है? अधिकांश में तो धर्म के पौराणिक-लौकिक रूप को ही धर्म कहा जाता है। उसके दार्शनिक रूप को नहीं। इसी कारण बौद्ध 'धर्म' उसकी अहंकार-क्षय की आत्यन्तिक दृष्टि के आधार पर नहीं, बल्कि उसकी उपासना विधि के बाह्य चिह्नों के आधार पर कहा जाता है। किन्तु वास्तव में यह अयुक्त है। अध्ययन की यह दृष्टि उन अध्येताओं के लिए ही रोचक हो सकती

है, जो ज्ञान के लिए भावनात्मक या बोधात्मक साक्षात्कार को प्रासंगिक नहीं मानकर केवल इन्द्रिय-ग्राह्य तत्त्व को ही प्रासंगिक मानते हैं। यह तथाकथित वैज्ञानिक विधि नियमन तथा नियोजन के लिए तो उपयुक्त है, ज्ञान के लिए नहीं, और दर्शन ज्ञान के लिए प्रयत्न है। इसी से दर्शन प्रामाण्य के अनुसन्धान में तर्क विज्ञान या लोक-संज्ञान के समान किसी बाहरी प्रयोजन के आधार पर विश्राम नहीं लेता। इसीको दर्शन की प्रामाण्य तथा प्रदत्त की पूर्वमान्यता रहित खोज कहा जाता है। ऐसे ज्ञान के लिए उपयुक्ततम विषय विषयीगत बोध : आत्मोन्मुख बोध : है, या फिर वह भाव (बींग) है, जो विषयी-बोध के साथ एकाकार होते हुए उसे अपने भीतर प्रतिष्ठित करता है। स्वयं अनुभववादी वैज्ञानिक भी आज अपने अध्ययन के लिए निदर्श को माध्यम बनाना आवश्यक पाते हैं, जिसका अर्थ है कि वे भी स्वयं इन्द्रिय-ग्राह्य विषय को ज्ञान के स्तर पर ग्राह्य नहीं मानते, केवल बुद्धिमूलक कल्पनाओं को ही ग्राह्य मानते हैं। वास्तव में यह कांट के ट्रांसेंडेंटलिज्म का एक निम्नस्तरीय प्रयोग है। इस प्रकार यह इस बात की स्वीकृति है कि विषय का भाव (बींग) या आधार वास्तव में विषयीगत है यद्यपि अनुभववादी : वैज्ञानिकतावादी : इस सत्य को देखने से इन्कार करते हैं, और अपनी दृष्टि निरन्तर विषयोन्मुख ही रखते हुए निदर्शों के प्रयोग को केवल विधिमूलक कल्पनाओं के रूप में ही देखते हैं। ज्ञान विषयक यह दृष्टि भौतिक जगत के नियोजन के लिए उपयोगी हो सकती है; किन्तु साथ ही यह भी सत्य है, कि यह मनुष्य या वस्तुओं के स्वरूप को देखने के लिए भी समीचीन है, यह बात इससे सिद्ध नहीं होती। ज्ञान अपने लिए उपयुक्ततम आधार विषयि-भाव (सब्जेक्टिविटी) में ही पाता है। किन्तु विषयिभाव चित्-सत् की अविभक्त स्थिति है। ज्ञान इस चित्-सत् की आत्म-विभक्ति है, यह अपने को अपनी प्रस्तुति है, यह अद्वय का आत्मविमर्श के लिए आत्मविश्लेषण है, जो भाषा में विश्लेषणात्मक अध्य-वसाय (एनेलिटिकल जजमेंट) के रूप में प्रकट होता है। 'सब वर्णयुक्त विस्तारयुक्त है' में एक ही क्षण अपने को प्रकाशित करने के प्रयत्न में विश्लिष्ट हो रहा है। किन्तु यह क्षण वैभव में अत्यन्त क्षीण होने से इस एक ही वाक्य में अपनी पूरी अभिव्यक्ति पा लेता है। इसके विपरीत एक गीत, उपन्यास, वैज्ञानिक व्यवस्था और दार्शनिक व्यवस्था आदि अत्यन्त वैभवपूर्ण क्षण के आत्मविश्लेषण होते हैं। किन्तु ये सब अनिवार्य रूप से विषयि-भाव के आत्मविश्लेषण नहीं हैं। ये तब तक विषयि-भाव के क्रियान्वयन मात्र होते हैं, जबतक यह क्रिया आत्मोन्मुख होकर अपने को ग्राह्य रूप में प्रकाशित नहीं करती है। उदाहरण के लिए नैतिक निर्णय को लें : 'यह कार्य श्रेयस्कर है' यह निर्णय विषयि भाव का विषयोन्मुख क्रियान्वयन है। इस भाव से नितान्त शून्य यह सूचनात्मक निर्णय है कि 'भारतीय समाज में पातिव्रत्य को श्रेयकर माना जाता

है।' यह निर्णय विषयमूलक हैं। इनमें से पहला निर्णय तब विषयि-भाव का आत्म-विवेचन हो जाता है, जब स्वयं श्रेयोमयता का बोध मननीय बनता है। उदाहरण के लिए नैतिक सन्देह के क्षण में अथवा कर्त्तव्य-च्युति पर पश्चात्ताप के क्षण में, और एक दूसरे स्तर पर तब, जब हम इस बोध की क्रियान्विति के मूल में जाकर इसके तत्त्व का ही स्वरूप देखने का प्रयत्न करते हैं। दर्शन में हम यह अन्तिम कार्य ही करते हैं। इसमें बोध की क्रिया या स्थिति केवल एक अवसर पर बनती है, जैसे अर्जुन गीता का युद्ध-क्षेत्र में विषाद।

यही बात धर्म के साथ भी है। इसका एक नितान्त विषयनिष्ठ ग्रहण हो सकता है, जो हम नृतत्त्वशास्त्रियों-समाजशास्त्रियों के अध्ययनों में देखते हैं। इसके विपरीत, जब हम जीवन की आगन्तुकता का, लौकिक उपलब्धियों की निस्सारता का, या लोकोत्तर विराट्ता का अनुभव करते हैं और इस अनुभव को अपनी जीवन-दृष्टि और जगद्दृष्टि का आधार बनाते हैं, तब हम धार्मिक विषयिभाव में प्रतिष्ठित होते हैं; जब यह भाव अपनी घटना में अनुभूत नहीं होकर अपने स्वरूप में विमृश्य होता है, तब वह विषयिभाव के आत्मविवेचन का प्रसंग होता है, जो धर्म-दर्शन का क्षेत्र है।

इस प्रकार धर्म की परिभाषा उपर्युक्त धार्मिक विषयिभाव से की जा सकती है। निश्चय ही यह परिभाषा पौराणिक धर्म पर पूरी तरह लागू नहीं होती, किन्तु अंशतः यह उस पर भी लागू होती है। वह दृष्टि इन्द्रियगोचर जगत् को अपर्याप्त पाकर इसे मानसगोचर जगत् के साथ सम्बन्धित करके देखती है, और इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि के लिए लोकोत्तर भाव इस दृष्टि के लिए इहलोक का एक केन्द्रीय निर्धारक तत्त्व होता है। इस दृष्टि के विषयभूत जगत् में आत्मा, देव-शक्तियाँ, और मरणोपरान्त जीवन आदि उसी प्रकार अस्तित्ववान् होते हैं, जिस प्रकार मेज-कुर्सियाँ आदि होते हैं। इनका अस्तित्व होता है, या नहीं, यहाँ हमारे लिए यह विचारणीय नहीं है। किन्तु अवान्तर टिप्पणी के रूप में यहाँ यह कहना प्रासंगिक होगा कि कांट ईश्वर का अस्तित्व तर्क-विरुद्ध दिखाते हुए यह भूल जाते हैं कि एक तो किसी तर्क की मूल प्रतिज्ञाएँ स्वयं उस तर्क के अन्तर्गत नहीं होतीं, और दूसरे, स्वयं कांट की अपनी युक्ति के अनुसार भी, भौतिक वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है। जो भी हो, आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि : धर्मदृष्टिः अस्तित्व के आग्रह के विपरीत, अस्तित्व की आगन्तुकता के बोध के आग्रह के साथ प्रवृत्त होती है, और यही बोध वास्तव में धर्म को दूसरे बोधों से पृथक् करता है। मध्यवर्ती धर्म में हम लोकोत्तर अस्तित्व-दृष्टि

और लौकिक अस्तित्व की आगन्तुकता की दृष्टि दोनों को ईश्वर-भाव में आत्मसमर्पण के रूप में समन्वित देखते हैं। इस दृष्टि का स्वरूप और प्रामाण्य क्या है ?

जीवन की, अस्तित्व की, आगन्तुकता का बोध एक साधारण तथ्य-विषयक ज्ञान नहीं है। 'यह पुस्तक चार सौ पृष्ठों की है' अथवा 'इस पुस्तक का रंग पीला है', ये कथन तथ्य-विषयक हैं, और ये तथ्य आगन्तुक हैं। किन्तु इन तथ्यों का 'ज्ञान' और उनकी आगन्तुकता का बोध ज्ञान और ज्ञेय मात्र के, तथा कर्म, प्रवृत्ति और साध्य मात्र के अर्थ के सम्बन्ध में कुछ मौलिक प्रश्न उत्पन्न कर देता है और मनुष्य जगत्-विषयक सहज आस्था को रूपान्तरित कर देता है। 'मैं हूँ' यह एक सहज, मौलिक तथ्य है, जो तथ्यमात्र के भाव या अभाव को धारण करता है। यह सही है कि 'यह पुस्तक है' तथ्य अपने-आप से 'मैं हूँ' पर आश्रित नहीं है, किन्तु 'मैं नहीं हूँ' यह तथ्य (बोध) पुस्तक के होने के तथ्य को उसी धुरी पर नहीं रहने देता, जिस पर यह तथ्य अपने अभाव के इस तथ्य-बोध के बिना था। क्योकि मेरे अभाव का तथ्य भाव मात्र को उसकी मूल धुरी से विचलित कर देता है। 'पुस्तक लाल रंग की है' की आगन्तुकता उसके पीला हो सकने के कारण है, वास्तव में 'यह पुस्तक है' भी आगन्तुक तथ्य है और इसकी आगन्तुकता 'इस' के पुस्तक नहीं होने की शक्यता के कारण, दूसरे शब्दों में 'पुस्तक होना' 'इस' की अनेक संभावनाओं में एक संभावना मात्र होने के कारण है। किन्तु यह शक्यता और आगन्तुकता कोई गंभीर समस्या उत्पन्न नहीं करती, क्योंकि 'यह' से संकेतित भाव इसमें अक्षुण्ण है। किन्तु मेरी आगन्तुकता मेरी अभाव-शक्यता इस 'यह' के भाव की अक्षुण्णता को भी समाप्त कर देती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'यह' की अक्षुण्णता 'मैं' की आगन्तुकता से इसलिए समाप्त नहीं होती कि इसका निर्धारण 'मैं' का अपेक्षी है, क्योंकि यहाँ 'यह' से निर्दिष्ट सत् 'वह' से बाधित या व्यावृत्त रूप में अपेक्षित नहीं होकर अनिर्धारित या निरुपाधिक रूप में ही लक्षित है। इसकी अक्षुण्णता 'मैं' की आगन्तुकता से इस कारण समाप्त होती है, क्योंकि 'मैं' सत् का मूल है, मेरा असत् अकल्पनीय परम शून्य में ही सम्भव है, अन्यथा नहीं।

हम यह प्रतिपादन डेकार्टीय सन्दर्भ में नहीं कर रहे हैं, जिसके अनुसार 'मैं' में सन्देह असम्भव है; न शांकर सन्दर्भ में ही कर रहे हैं, जिसमें 'मैं' सब ज्ञान का अनिवार्य सहगामी है, यहाँ हमारा आशय केवल यह है कि 'मैं' की आगन्तुकता आगन्तुकता को ही परमार्थ रूप में स्थापित कर देती है। संभवत: बुद्ध की यही दृष्टि थी। सार्त्र में भी, जो बीइंग इन इट् सेल्फ को ही मूल और स्वतन्त्र भाव मानता है, 'जगद्भाव का मूल 'मैं' ही है। इस प्रकार सार्त्र में भी 'मैं' की आगन्तुकता, या तो आगन्तुकता को ही

परमार्थ रूप में स्थापित कर देगी अथवा निरपेक्ष परम जड़भाव (इन इट्सेल्फ) को 'मैं' के आधार के रूप में प्रतिष्ठित कर देगी।

अपनी आगन्तुकता का त्रासक बोध यद्यपि मनुष्य को जरा और मृत्यु के बोध से होता है, किन्तु यह बोध जरा और मृत्यु के बोधपर आश्रित नहीं है; वास्तव में मृत्यु भी जीवन की आगन्तुकता की द्योतक तभी हो सकती है, जब चैतन्य में यह बोध मौलिक रूप से विद्यमान हो। 'यह कुर्सी लाल रंग की है' में चारों पदार्थों : वाच्यार्थों : का परस्पर सम्बन्ध और अपना-अपना भाव (बींग) आगन्तुक हैं, और यह हम इस कुर्सी को देखने के साथ ही जानते हैं, यह कहा जा सकता है; यह बोध हमारे इस विषय के ग्रहण का अन्तरंग होता है। किन्तु यहाँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि न केवल यह कुर्सी और वह मेज ही अन्तरंग आगन्तुकता के साथ प्रस्तुत होते हैं, बल्कि विषय मात्र का आधार जगत् भी अन्तरंग आगन्तुकता से संवलित है। जगत् का भाव उसके अन्यथा भाव और असद्भाव की संभावनाओं से उतना ही संवलित है, जितना इस कुर्सी का। और जैसा कि हम जानते हैं, जगत् की जरा और मृत्यु को हम प्रत्यक्ष नहीं देखते। मेरी आगन्तुकता इसी से प्रकट नहीं है कि मैं मरूँगा, बल्कि इससे भी प्रकट है कि मैं जो कुछ हूँ उससे सर्वथा भिन्न भी हो सकता था। किन्तु तब भी, मृत्यु में मैं अपने असद्भाव का साक्षात्कार करता हूँ, ऐसा साक्षात्कार जैसा मैं अन्य किसी असद्भाव का नहीं करता। 'भूतल पर घटाभाव' घट के अन्यत्र भाव का सापेक्ष है और घट-नाश घटाकृति के अन्यथाभाव का, किन्तु मेरी मृत्यु न मेरा अन्यथाभाव है, और न अन्यत्र भाव। यह पूर्ण अभाव है, भाव का पूर्ण विराम, निषेध।

किन्तु क्या यह संभव है? क्या सत् असत् हो सकता है? क्या 'भाव का अभाव होना 'सत् का असत् होना' यह प्रतिज्ञप्ति संभव है? भाव अभाव से बाधित हो सकता है, उसी प्रकार अभाव का भाव से बाधित होना अनिवार्य है। अभाव की भाव से बाधितता उसकी सीमितता की द्योतक है, इसी प्रकार भाव के अभाव होने का अर्थ है, भाव की काल में सीमितता; किन्तु ये सब सीमितताएँ किसी दूसरे व्यापकतर भाव में धारण होती हैं; काल में सीमितता अर्थात् भाव और अभाव की काल में परस्पर व्यावृत्ति, काल की अबाधता : अव्यावर्तनीयता : में धारण होती है, इसी प्रकार भूतल पर घट-भाव और भूतल पर ही उसका अभाव भूतल की अबाधता में धारण होता है; काल का स्वयं में भाव और देश तथा सामान्य आदि में अभाव जगत् के भाव की अबाधता में धारण होते हैं। किन्तु जगत् भी पूर्ण भाव नहीं है, जैसाकि हमने पीछे देखा, इसका असद्भाव और भाव का अन्यथात्व संभव है। किन्तु जगत् के भाव और अभाव का धारण किसमें हो सकता है? यह व्यापकतर आधार क्या

हो सकता है ? यह आधार कुछ लोगों ने भूततत्त्व में देखा है। किन्तु भूततत्त्व जगत् के भाव का आधार तो हो सकता है, उसके अन्यथाभाव और अभाव का आधार नहीं हो सकता, जोकि उसके जगत् के व्यावर्तक होने से जगत् के भाव की अनिवार्य और अन्तरंग अपेक्षाएँ हैं। इस प्रकार भूत-तत्त्व जगत् के भाव का आधार भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके भाव का आधार वही हो सकता है, जो उसके अन्यथाभाव और अभाव को भी धारण कर सके। वास्तव में भूत-तत्त्व भाव में जगत् के भाव से संकुचिततर भी है, क्योंकि वह, अधिक से अधिक, जगत् का उपादान कारण ही हो सकता है, बल्कि जगत् का भाव कम से कम निमित्त, प्रयोजन और कल्पना को भी समाविष्ट करता है। जब हम उसके इस प्रकार व्यावर्तकों : अन्यथा भाव और अभाव : की सापेक्षता में उसका ग्रहण करेंगे, तो पायेंगे कि केवल विकल्पात्मक चित् ही जगत् के अभाव और अन्यथात्व का धारण कर सकता है। यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि जगत् का अभाव और अन्यथाभाव अनिवार्यतः विकल्पमूलक होने से अवास्तविक ही क्यों नहीं माने जांय ? इसका उत्तर इसके भाव की ही विकल्पमूलकता के आधार पर दिया जा सकता है, अन्यथा नहीं; क्योंकि उपर्युक्त आपत्ति में जगत् के भाव की पूर्णता गृहीत है। इसके अभाव और अन्यथाभाव की कल्पनीयता इस अवस्था में कुछ सिद्ध नहीं कर सकती। यहाँ जगत् के भाव के स्वरूप के सम्बन्ध में विस्तार से विचार नहीं किया जा सकता।[४] यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जगत् अपने भौतिक पक्ष में नितान्त सामान्य गणितीय नियम को और जैव पक्ष में जैव सप्रयोजनता और विकल्प को व्यक्त करता है। गणितीय नियम के रूप में इसे मानवीय विकल्प का आक्षेप भी कहा जा सकता है, जैसा कि दिङ्नाग आदि बौद्धों और कांट ने दिखाया है, किन्तु जैव प्रयोजन मानव-संकल्प के अधीन नहीं देखा जा सकता। उदाहरण के लिए मधुमक्खियों का छत्ता और पक्षियों की प्रवास-यात्राएँ आदि स्वतन्त्र प्रयोजन और बुद्धि-कौशल को प्रदर्शित करते हैं। जहां तक मानवीय विकल्प का प्रश्न है, वह भी उसके व्यक्तिगत या जातीय संकल्प के अधीन नहीं होने से वैश्व संकल्प और बुद्धि को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार जगत् के आधार में बुद्धि की विद्यमानता एक असंदिग्ध तथ्य है। यह बुद्धि ही विमर्श रूप में विषय-वैविध्य को और उसके अभाव तथा अन्यथाभाव को धारण करती है। यही बुद्धि तत्त्व धर्म में कर्तृत्व की शक्ति से संयुक्त हो कर ईश्वर के नाम से स्थापित होता है। किन्तु कर्तृत्व अहंकारोपाधि को पूर्वकल्पित करता है, जो ईश्वर में संभव नहीं है। इसी से दार्शनिक धर्मों बौद्ध, वेदान्त, सांख्य आदि : में ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया

है, किन्तु उसमें भी जगत् का आधार चित् को स्वीकार किया गया है।[1] वैष्णव धर्म में ईश्वर को स्वीकार किया गया है, किन्तु उसमें भी उसे व्यक्ति और कर्त्ता के रूप में नहीं बल्कि ईश्वरतत्त्व : लीलातत्त्व: के रूप में स्वीकार किया गया है। यह चित् या लीला तत्त्व ही जगत्तत्त्व के भाव की पूर्णता है।

किन्तु चित्तत्त्व की कर्तृत्व से : अहंकारोपाधि से : रहित पूर्ण भाव के रूप में कल्पना, जो कि नागार्जुन और वसुबन्धु के 'बुद्ध' में और शंकर के ब्रह्म में उपलब्ध होती है, अत्यधिक साहसपूर्ण दार्शनिक चिन्तन के लिए ही संभव हो सकती है, धर्म के लिए यह सहज सुलभ नहीं है। क्योंकि धर्म अभाव (नान्-बींग) की जिस अनुभूति को जीतने के प्रयत्न के रूप में आरम्भ होता है, उसमें आस्था के लिए अपेक्षाकृत अधिक ठोस आधार की आवश्यकता होती है। इसी से सामान्य धर्म व्यक्तित्व (कर्तृत्व) सम्पन्न ईश्वर या देवता में आगन्तुकता : अभाव : के अनुभव से जनित त्रास का आश्रय खोजता रहा है। इसी से शंकर ने उपासना के लिए ईश्वर की व्यवस्था की और कुछ बौद्ध धर्म-सम्प्रदायों ने व्यक्तित्व-सम्पन्न बुद्ध की। किन्तु तब भी, पूर्ण निरुपाधिक भाव के रूप में चैतन्य की अत्यन्त साहसपूर्ण दार्शनिक कल्पना का श्रेय भी आगन्तुकता की धार्मिक अनुभूति से प्रेरित कुछ मनस्वियों को ही है, क्योंकि यह बोध हम केवल उपनिषदों में, और अपने स्फुटतम रूप में बुद्ध में, ही सबसे पहले पाते हैं। इसमें कितना साहस अपेक्षित है, यह पश्चिमी धर्म के ही नहीं दर्शन के इतिहास से भी देखा जा सकता है, जिसमें हेगल से पहले दार्शनिक कल्पना व्यक्तित्व या अहंकारोपाधि का अतिक्रमण नहीं कर सकी और जिसमें मनुष्य के व्यक्तित्व को आत्यन्तिक तथा ईश्वर को व्यक्ति रूप में देखा गया। वास्तव में हेगल में भी अहंकारोपाधि का अतिक्रमण निरूपाधिकता में नहीं है, बल्कि बुद्ध्युपाधि में है। किन्तु वास्तव में यह आगन्तुकता के बोध का ही तर्क है, जो कि वैयक्तिकता मात्र की औपाधिकता को प्रकट करता है।

ऊपर हमने धर्म को परिभाषित करके भी दर्शन से उसके भेद को परिभाषित नहीं किया है, किन्तु यहाँ वह करना आवश्यक हो गया है। वास्तव में दर्शन की एक स्पष्ट और निश्चित परिभाषा कठिन है, क्योंकि जहाँ एक ओर दर्शन को धर्म-दृष्टि के

---

१. यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि इन्होंने बुद्धि को चित् नहीं मान कर अचित् ही माना है और शुद्ध चित् में उसकी अविद्यमानता मानी है। किन्तु यहाँ द्रष्टव्य है कि इन्होंने जगत् को बुद्धिमूलक ही माना है। हमारे लिए यहाँ इतना ही प्रासंगिक है।

रूप में ही देखा गया है, जैसे सामान्य रूप से भारतीय दार्शनिकों द्वारा और सुकरात, प्लेटो और ईसाई सन्तों द्वारा, वहाँ दूसरी ओर इसे दृष्टि के निरपेक्ष आकार : ऊहा, युक्ति, विश्लेषण: के रूप में देखा गया है। जैसे भारतीय नैयायिकों द्वारा और पश्चिम के पिछले तीन शताब्दियों के कुछ दार्शनिकों द्वारा। यदि दर्शन को दृष्टि के आकार मात्र के बजाय दृष्टि : वस्तु-दर्शन, तत्व-दर्शन: भी माना जाए तब भी उसे केवल धर्म तक तो सीमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि चार्वाकीय दृष्टि भी वास्तव में तत्त्व दृष्टि ही थी। किन्तु इसपर आपत्ति की जा सकती है कि चार्वाकीय दृष्टि वास्तव 'दृष्टि' नहीं थी, वह केवल आकार में ही 'दृष्टि' थी, अन्यथा उसमें 'दृष्टि' का व्यवस्थित रूप से निषेध था। यदि इस मत को स्वीकार किया जाय, तो केवल धर्म-दृष्टि ही 'दृष्टि' रह जाती है, और इसप्रकार धर्म-दर्शन ही दर्शन रह जाता है। भारतीय दार्शनिकों के अतिरिक्त फिख्ते, शैल्लिग तथा हैगल आदि का बहुत कुछ यही मत था। यह मत विचारणीय और युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इसके पीछे युक्ति यह है कि जीवन के तत्त्व-विषयक कोई भी समग्र और सम्यक् दृष्टि विभिन्न रूपों, पक्षों, और प्रकारों को एक ही तत्त्व के रूप में देखती है और वह तत्त्व है परमात्मा, परम बुद्धत्व। ऊपर जिसे हमने परम भाव : निरुपाधिक सत् : कहा है; उसे ही परमात्मा तत्त्व भी कह सकते हैं। किन्तु दार्शनिक दृष्टि इस दृष्टि से इस बात में भिन्न है कि यह तत्त्व को देखने के बजाय उसके प्रामाण्य की पूछ करती है, और प्रामाण्य की पूछ विशिष्ट रूप से बौद्धिक चैतन्य का स्वोन्मुख अभिगमन है[1]। यहाँ यह कहा जा सकता है कि प्रामाण्य का यह अनुसन्धान केवल एक ही तत्त्व की प्रामाणिकता के निश्चय में पर्यवसित हो सकता है, जिस तत्त्व का धर्म-दृष्टि प्रदत्त के रूप में साक्षात्कार करती है, किन्तु यह एक दूसरी बात है।

धर्म, दर्शन के समान प्रामाण्य का अनुसन्धान नहीं है, यह भाव या तत्त्व (बींग) का साक्षात्कार और उस स्थिति में अपने को बनाये रखने का प्रयत्न, अथवा साक्षात्कार का प्रयत्न, है। इस प्रकार धर्म साधना या प्रयत्न है। इसमें साक्षात्कृत अथवा साक्षात्करणीय तत्त्व का प्रथम आभास जगत् में जीवन की आगन्तुकता और परिणामस्वरूप इसकी अतत्त्वता : निस्सारता : के साक्षात्कारात्मक बोध से होता है। जीवन की अतत्त्वता का साक्षात्कार तत्त्व को भी एक ही साथ और अनिवार्य रूप से प्रस्तुत कर देता हो, ऐसी बात नहीं है, दूसरे, यह साक्षात्कार बौद्धिक नहीं होता,

---

१. द्रष्टव्य हमारा लेख-दर्शन का आरम्भ-बिन्दु, परामर्श (त्रैमायिक), अप्रैल-जून १९८०।

क्योंकि यदि यह बौद्धिक होता तब यह दर्शन ही हो जाता। यह साक्षात्कार तद्भाव की : तत्त्व की : सिद्धि है; नकारात्मक पदावली में कहें, तो अतत्त्व के अपक्षय की सिद्धि है, यह 'हुए होने' से 'हो जाना' है, यह 'संभाव्य' से मुक्त हो कर 'भाव की पूर्णता पा लेना' है।

'अतत्त्व का अपक्षय', 'भाव की सिद्धि' ये पद पूर्णतः बौद्धिक : ज्ञानात्मक-तर्कात्मक : पदावली में अनवगम्य हैं, क्योंकि उस पदावली में मानदण्ड सत्य होता है। जो ज्ञान और भाव के बीच समन्वय की स्थिति है। किन्तु आश्चर्यजनक स्थिति यह है कि हमारे साधारण लौकिक जीवन में यह समन्वय नितान्त सांयोगिक है और ज्ञानमीमांसा तथा तर्कशास्त्र सदैव भ्रम के विवेचन के प्रति चिन्तित रहते हैं, ये भ्रम की विद्यमानता के रहस्य और उससे मुक्ति के लिए प्रयत्नों के सम्बन्ध में प्रायः ही विचार नहीं करते। ऐन्द्रिक विषय का साक्षात्कार ऐन्द्रिक सत्य है, किन्तु इसमें भ्रम सदैव होता है। दर्शन भ्रम के स्वरूप पर विचार करता है, किन्तु इसकी विद्यमानता के हेतु और इसके निवारण के उपायों पर विचार नहीं करता; उन उपायों पर आचरण में तो कभी भी प्रवृत नहीं होता। इसी प्रकार तर्कशास्त्र प्रतिज्ञप्तियों में बुद्धि-ग्राह्य संबंधों के स्वरूप की खोज करता है और उस मान दण्ड से सत्य और असत्य संबंधों का निर्णय करता है। किन्तु असत्य संबंधों की विद्यमानता के रहस्य और तज्जनित उद्विग्नता और त्रास का अनुभव यह नहीं कर सकता और न असत्य की संभावना के निवारण के प्रयत्न में प्रवृत्त हो सकता है। इसी से यह विचार, इन्द्रिय और मनस् आदि की प्रवृत्ति की दिशा की युक्तता-अयुक्तता का निर्णय भी नहीं कर सकता। उदाहरणतः, क्यों मैं दर्शन-विचार ही करूँ, लोक-व्यवहार की समस्याओं के समाधान में ही विचार प्रवृत्त क्यों नहीं रहूँ, यह बोध ज्ञानमीमांसा और तर्कशास्त्र के अपने क्षेत्रों में नहीं है, यह बोध नीति और धर्म-मूलक है : कर्म के सन्दर्भ में नीति-मूलक और अस्तित्व सामान्य के सन्दर्भ में धर्म मूलक।

वास्तव में भ्रम अविवेक अतत्त्व अभाव, जो अगन्तुकता के ही विभिन्न पक्ष हैं, की विद्यमानता रहस्यों का रहस्य : परम रहस्य : है। क्योंकि इनकी वस्तुता नहीं है, ये 'शून्य' हैं, किन्तु तब भी ये हैं। ये अवस्तु हैं, तभी इन से मुक्ति संभव है, किन्तु क्योंकि अवस्तु होने पर भी ये हैं, इसी से प्रयत्न की विद्यमानता और सार्थकता है। यह सब हम सहज रूप से जानते हैं, यह बोध वास्तव में रहस्य-बोध के अन्तर्गत ही है। इसी से धर्म चर्या है, आचरण है, विचक्षणता नहीं, यह भी कह सकते हैं कि धर्म इस पक्ष में अविचक्षणता के निवारण का प्रयत्न है, विचक्षणता उसका फल है।

भ्रम, अविवेक, अविचक्षणता, और इसी प्रकार ज्ञान, विवेक और विचक्षणता,

प्रथमतः चित् और सत् के द्वैत को सूचित करते हैं, और अधिकांश दर्शनों और धर्म दर्शनों ने यह भेद स्वीकार किया है। धर्म ने यह द्वैत मनुष्य और ईश्वर के द्वैत के रूप में देखा है। किन्तु वास्तव में यह द्वैत मूलगामी रूप में कल्पित करना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि यदि द्वैत वास्तविक हो, तब अभाव का निवारण असंभव होगा : मुझे ईश्वर से मेरी सीमितता ही पृथक् करती है; तब सीमितता मेरा स्वरूप है और परिणामतः वह अनिवार्य है। ऐसी अवस्था में इसके निवारण की संभावना ही समाप्त हो जाती है। यदि चित् और सत् की पदावली में विचार करें तो चित् का सत् से भेद कैसे करेंगे ? क्योंकि चित् भी असत् नहीं हो सकता। यदि द्वैत को द्रव्यगत मानें तब एक ओर विचक्षणता की सिद्धि का कोई निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि तब या तो ज्ञान स्वतःसिद्ध है, अथवा वह है ही नहीं, इसमें अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रगति का कोई अर्थ नहीं रह सकता, और दूसरी ओर, इसका आगन्तुकता के धार्मिक बोध से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। और वास्तव में मनोमूलक असत्य : अविवेक, दिशा-भ्रष्ट राय : और बुद्धिमूलक असत्य में द्रव्यगत द्वैत का वैसे भी कोई अर्थ नहीं रहता, क्योंकि नैतिक-धार्मिक उचित, और विचारात्मक युक्तता या सत्य स्वयं मनोगत और बुद्धिगत आत्म-बोध है, किसी द्रव्यान्तर की अपेक्षा से इनका निर्धारण नहीं। अमुक कर्म उचित है या नहीं, इसका एकमात्र निर्धारण इस बोध की अपेक्षा से होता है कि कर्त्ता की मनोवृत्ति क्या थी, दूसरे शब्दों में, कर्त्ता के आत्मसाक्षात्कार के द्वारा। इसी प्रकार विचार की युक्तता या सत्य का निर्धारण विचार के अपने सूत्रों में अन्तर्गत-संगति की सिद्धि से होता है, अपने से बाहर किसी वस्तु की अपेक्षा से नहीं। धार्मिक आगन्तुकता का बोध स्वयं अस्तित्वमूलक ही होने से द्वैतपरक होने का कोई अर्थ नहीं है। अधिकांश धार्मिक लोगों ने इस सत्य को नहीं देखा[1], यह केवल इसी बात का द्योतक है कि विषयीगत अर्थ का अवगमन बहुत अधिक दुस्साध्य होता है।

ऐतिहासिक रूप से, धार्मिक आगन्तुकता के बोध की आदिमतम अभिव्यक्ति हम मृत्यु से सम्बन्धित संस्कारों में पाते हैं। मृत्यु से उद्घाटित आगन्तुकता की चुनौती को मनुष्य ने मृत्यु के पश्चात् जीवन की कल्पनाओं द्वारा विजित करने का प्रयत्न किया और जीवित मनुष्य की और उसके जगत् की ससीमता के बोध को देव-लोक की कल्पनाओं द्वारा आपूर्त किया। इस बोध के प्रति मनुष्य की आरम्भिक

---

१. रुडोल्फ ओट्टो-दिआइडिया आफ दि होली, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

प्रतिक्रिया पूर्णतः बाह्योन्मुख तथा जगत् के स्वरूप के निर्धारण के प्रति चिन्ताकुल थी। किन्तु पीछे क्रमशः यह बोध स्थूल अस्तित्व के बजाय आन्तर भाव-बोध की ओर, वस्तु के बजाय आशय : वस्त्वर्थ: की ओर, उन्मुख होता चला गया। अब चिन्ता का विषय मृत्यु के बाद मनुष्य की भौतिक-जैविक या मानसिक काया का नैरन्तर्य नहीं रह कर व्यक्तित्व का, बोध का, रूपान्तरण हो गया है। इसी से धर्म के साथ नैतिकता, श्रेयस्, आर्षत्व, आन्तर शान्ति, औदार्य और सामरस्य आदि का अनिवार्य सम्बन्ध हो गया। कुछ लोग धर्म के साथ नैतिकता का अनिवार्य सम्बन्ध नहीं मानते मानों अनैतिक व्यक्ति भी धार्मिक हो सकता है। ये लोग वास्तव में धर्म के लिए नीति को अप्रासंगिक मानते हैं। किन्तु यह सही नहीं है। यह धारणा बहुत कुछ नीति को संकुचित अर्थ में नहीं लेने के कारण और बहुत कुछ धर्म को सही अर्थ में नहीं लेने के कारण है। धर्म पौराणिक आदिम स्तर पर अपने स्वरूप से अनवगत रहता है, उसमें नीति अवश्य उसके लिए अप्रासंगिक होती है, दिवाली पर गणेश-पूजा जिस व्यवस्था की अंग है, उसमें नीति वास्तव में ही प्रासंगिक नहीं है, किन्तु इस व्यवस्था को पूरी तरह धार्मिक भी नहीं कहा जा सकता। इसमें देवता एक ऐसी लोकोत्तर शक्ति के रूप में कल्पित होता है, जो मनुष्य की लौकिक असामर्थ्य और असहाय्य-भावना को संबल देकर उसकी लौकिक सुखाकांक्षा की पूर्ति करता है। किन्तु धार्मिक चेतना के विकास के साथ 'देवता' उस दिव्य शक्ति का प्रतीक हो जाता है, जो मनुष्य में व्यक्त सीमित प्रकाश, प्राण और बोध का असीमित स्रोत हैं।[1] यह स्रोत सहज प्रसादक है, सहज भरण करने वाला है, किन्तु उस दान को प्राप्त करने के

---

१. एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्। कठोप० २।१२
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। वहीं २।१५।
जो सब प्राणियों में अन्तरात्मा रूप में स्थित उनका एक नियामक है, जो अपने एक रूप को ही अनेकधा व्यक्त करता है, उसको जो अपने भीतर अपने आधार के रूप में देखते हैं, वे ही शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकते हैं।
जो भी कुछ विश्व में है, सब उसी की कान्ति से उद्भासित हो रहा है।

—१३—

लिए अपने में पात्रता उत्पन्न करना आवश्यक होता है।[1] यह पात्रता यज्ञ द्वारा और उपासना द्वारा प्राप्त हो सकती है। यज्ञ देवता को देने का कर्म है और उपासना उससे रागात्मक एकीभाव स्थापित करता है। देवता को देने का क्या अर्थ है? जिसका स्वभाव ही देना है और जो शाश्वत और असीम दाता है, उसे देने का क्या अर्थ? इसका अर्थ है दिव्य व्यवस्था में अपने को समर्पित करने के माध्यम से अपने में उस दिव्य शक्ति का अंश जागृत करना। यह धर्माचरण है, किन्तु साथ ही यह नैतिक आचरण भी है। धर्म को नीति-निरपेक्ष मानने वाले विचारकों का कहना है, कि धर्माचरण के साथ अनैतिक आचरण असंगत नहीं है, अर्थात् यह सर्वथा कल्पनीय है कि नितान्त धार्मिक व्यक्ति नितान्त अनैतिक भी हो, जैसे तान्त्रिक। इसी प्रकार, यह भी संभव है कि कोई बहुत भक्तिपरायण व्यक्ति दूसरों के दुःख-दर्द के प्रति और सत्य-निष्टा के प्रति उपेक्षापूर्ण हो, जैसे ईसाइयों और मुस्लिमों ने धर्म के लिए भयानक नर-संहार किये। ये उदाहरण सही हैं, किन्तु तब भी ये इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करते कि धर्म-भाव नीति-भाव से निरपेक्ष होता है। इनमें अन्तिम उदाहरण को लें: जबकि यह सही है, कि ईसाइयों और मुस्लिमों ने भयानक नर-संहार किये, यह भी सही है, कि इन दोनों धर्मों में नैतिक आचरण पर बहुत बल है और इसके बहुत कड़े नियम हैं। इसलिए इस उदाहरण से धर्म और नीति का असम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। तब ऐसा क्यों है कि इन धर्मावलम्बियों ने धर्म के लिए नर-संहार किये? इस का समाधान यह है कि उन्होंने इस आचरण को अनैतिक नहीं समझा, अधिक सही शब्दों में कहें, तो इन्होंने इस आचरण के नैतिक तत्त्व का मर्म ठीक से नहीं समझा। जहाँ तक दूसरे उदाहरण का प्रश्न है, उसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि भक्तिपरायण व्यक्ति का सत्य के प्रति उपेक्षापूर्ण होना ऐसा ही है, जैसे किसी अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण और निस्स्वार्थ व्यक्ति का सत्य-भाषण के प्रति उपेक्षापूर्ण होना। ऐसा होता है, यह हम सब जानते हैं। तब ऐसा क्यों होता है कि एक नैतिक गुण से सम्पन्न व्यक्ति दूसरे नैतिक गुण से रहित हो सकता है? इसका कारण यह होता है, कि अधिकांश में हम अपने प्रति पर्याप्त प्रबुद्ध नहीं रहते। जहाँ तक तान्त्रिक का

---

१. यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं. तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्,
तथाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही, एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः।
श्वेताश्वतर २।१४।
(जिस प्रकार मलोपलिप्त बिम्ब स्वच्छ होने पर तेजोमय होकर प्रकाशित होता है, उसी प्रकार पाप-मुक्त आत्म तत्त्व होता है। उस वीतमल आत्म तत्त्व को देख कर मनुष्य आनन्द को प्राप्त करता है।)

सम्बन्ध है, उसे धार्मिक ही नहीं कहा जा सकता, वह एक प्रकार का मेकेनिक होता है, जो एक प्राकृतिक (विषय-जगत् परक) स्थिति को उत्पन्न करने के लिए प्राकृतिक साधनों का अविष्कार और उपयोग करता है। केवल उसकी प्रकृति भौतिक नहीं होकर प्राणिक, मानसिक होती है। इस प्रकार ये उदाहरण धर्म की नीति-निरपेक्षता के सम्बन्ध में कुछ सिद्ध नहीं करते। इस समस्या के समाधान के लिए नीति के स्वरूप का निश्चय करना आवश्यक है। नीति की न्यूनतम परिभाषा 'कर्म का किसी मानदण्ड के अनुसार अनुशासन' कही जा सकती है। किन्तु यह परिभाषा पर्याप्त नहीं है, क्योंकि इस मानदण्ड का स्वरूप निश्चित होना आवश्यक है। कांट ने इसका आधार श्रेयोमय भावना : शुभ संकल्प : को बताया है, कालिदास ने इसी को 'सतां हि सन्देह-पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' के द्वारा अभिव्यक्ति दी है। ठीक यही परिभाषा मनु ने 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' शब्दों में दी है। वास्तव में मनु ने इसे धर्म का लक्षण कहा है, क्योंकि 'धर्म' शब्द भारत में 'धारण करने वाले नियम' मात्र का वाचक था। बौद्धों ने इस शब्द का प्रयोग प्रायः सत् के अर्थ में किया है। इस प्रकार इनके अनुसार नीति वह नियम है, जो मानव-चेतना की श्रेयस् के प्रति आस्था को, और इस प्रकार उसके अपने सत् को, धारण करता है। इस प्रकार नीति की परिभाषा 'आत्म-सिद्धि' अथवा स्वरूप सिद्धि के लिए कर्म का अपने कर्म का अनुशासन यह दी जा सकती है। कुछ लोग नीति को अनिवार्यतः समाज-मूलक : सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था : मानते हैं, और इसका स्रोत मनुष्य की तर्कोचित विवेक के सामर्थ्य को मानते हैं। नीति के इस तत्त्व को ही 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' में तथा कांट के फोर्म आफ मारल ला (नैतिक नियम के आकार) में अभिव्यक्ति मिली है। किन्तु तब मनुष्य का तर्कोचित विवेक मानव-समाज तक ही सीमित क्यों रहे? इसी से 'अहिंसा' की भारतीय अवधारणा ने बाहर इसका विस्तार प्राणि मात्र तक किया और भीतर मनोभाव तक। यदि मनुष्य समाज का ही नहीं, प्राणि-जगत् का ही नहीं, विश्व-व्यवस्था का सदस्य है, तब फिर उसको विश्व-व्यवस्था में ही अपने तर्कोचित के विवेक का प्रसार करना चाहिए। यज्ञ की अवधारणा में यही बोध है। किन्तु तर्कोचित का बोध अपने-आप का धारण नहीं कर सकता। क्यों मैं अपने कर्म के औचित्य की कसौटी सार्वभौमता (कांट) को बनाऊँ? क्यों मैं परेषां की चिन्ता करूँ? और फिर मनुष्य में केवल तर्कोचित का विवेक ही नहीं है, उससे कहीं अधिक वासनाः रागः और अहंकार का आग्रह भी है। तब 'मनुष्य का स्वरूप' प्रथम को कैसे कहा जाय, द्वितीय को कैसे नहीं कहा जाय? इसलिए मनुष्य में स्वरूप-बोध को मौलिक स्वीकार करना आवश्यक होगा। जो बोध उसे अपनी चेतना के वासनात्मक देहेन्द्रियात्मक स्तर को स्वरूप-विरुद्ध देखने और उसका

अतिक्रमण करने का सामर्थ्य देता है। वास्तव में यह स्वरूप-बोध ही नीति का आधार है : यह मनुष्योचित नहीं है, और यह मनुष्योचित है : यह बोध ही वास्तव में नीति का मूल है, जिसके अनुसार सब कर्म की प्रतिष्ठा अन्त में भगवत्-भाव में है। गीता में कर्म को इसी भागवत् (ब्रह्म) सन्दर्भ में देखा गया है : कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्। तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।[1] नैतिक कर्म इसी कर्म-बोध का एक प्रसंग है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस भागवत बोध से पृथक् नीति-बोध संभव ही नहीं है, यह बोध कांटीय सन्दर्भ की सीमा में भी समझा जा सकता है, क्योंकि भागवत बोध से रहित व्यक्ति केवल बौद्धिक स्तर पर भी युक्तता : तर्कोचित्यः का भावन कर सकता है। किन्तु यहाँ द्रष्टव्य यह है कि युक्तायुक्त कर्म का विवेक मनुष्य में उतना ही सहज है, जितना पशु में, और एक पशु होने से मनुष्य में भी, वस्तु-अवस्तु-विवेक है। और उतना ही सहज भागवत बोध भी है। नैतिक और भागवत बोधों की उत्तरोत्तर कम सुलभता इनकी प्रामाणिकता को कम नहीं करती, जैसे पशु में स्वोन्मुखता या मननशीलता का अभाव मनुष्य में उसकी विद्यमानता को अप्रामाणिक नहीं बनाता।

यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि 'कर्त्ता की स्वरूप-सिद्धि' पद में नैतिकता बोध की व्यक्तिमूलकता अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि इस स्वरूप-सिद्धि में सबसे पहला चरण व्यक्त्युपाधि का अतिक्रमण ही अभिप्रेत होता है। यह अतिक्रमण भागवत भाव में तो होता ही है, और वहाँ वह आत्यन्तिक होता है : जैसे बुद्ध के द्वादश-निदानात्मक प्रतीत्य-समुत्पाद के अपक्षय में :, यह तर्कोचित विवेक में भी आधारभूत है। क्योंकि इसमें 'मैं' और 'पद' की कक्षाएँ समाप्त कर इन्हें एक ही स्तर पर देखना आवश्यक होता है। किन्तु यदि नीति का मूल समाज को बनाया जायगा तब व्यक्ति उसमें न केवल अनिवार्य हो जायगा, बल्कि केन्द्र भी हो जायगा, क्योंकि तब सामाजिक व्यवस्था व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सम्बन्धों का संस्थान मात्र होगी और सामाजिक सम्बन्धों की प्रामाणिकता का आधार व्यक्तिगत हितों की सिद्धि में उनकी उपयोगिता होगी। यूरोप की प्रजातन्त्र और नैतिक चिन्तन दोनों की अवधारणाएँ व्यक्ति की अखण्डता और मौलिकता के सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित है। किन्तु व्यक्ति की यह अवधारणा न धर्म-दृष्टि के साथ संगत है और न नैतिक बोध के साथ ही संगत है। और न दार्शनिक प्रामाण्य-चिन्तन ही इसका समर्थन कर सकता है। उदाहरण के लिए एँस्लम और डेकार्ट के ईश्वर की सत्ता-विषयक प्रमाणों को लें इनके अनुसार, मेरी ससीमता एक प्रदत्त तथ्य है, और यह तथ्य प्रदत्त होने पर असीमता का अस्तित्व तर्क-सिद्ध है। किन्तु तब

१. गीता ३।१५

नागार्जुन कहेंगे कि ससीमता अभाव-परिच्छिन्न भाव है और इस प्रकार स्वरूपतः अन्याश्रित होने से शून्य या निस्स्वभाव है। ऐसी अवस्था में यह मूल प्रदत्त नहीं हो सकती और परिणामतः व्यक्ति की अखंडता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। यद्यपि डेकार्ट के लिए 'मैं हूँ' यह मूल तथ्य है, किन्तु यह मूल तथ्य उसके अनुसार भी मूल प्रदत्त नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि यह मूलगामी सन्देह (रेडीकल डाउट) के द्वारा चैतन्य के आत्मलाभ के प्रयत्न का, प्रत्यङ्मुख होने की साधना का, फल है।[1] किन्तु इस प्रयत्न में चैतन्य की ससीमता, आगन्तुकता या औपाधिकता का साक्षात्कार आत्मा के रूप में नहीं होता बल्कि आत्मलाभ के प्रयत्न के आरम्भ में ही होता है : जिस पर सन्देह नहीं किया जा सकता वह ससीम नहीं हो सकता, असीम ही हो सकता हैं, यदि मेरा भाव (मैं हूँ) एक ससीम : आश्रित-आगन्तुक : घटना या स्थिति मात्र है, तब इसका होना केवल एक संभावना का घटित होना है, वह सन्देहों के अतिक्रमण की स्थिति नहीं हो सकती। डेकार्ट ने अपनी ईश्वर-मीमांसा में अपने तर्क के इस दोष को देखा था, यद्यपि उसे पूरी तरह पहचाना नहीं था, क्योंकि पश्चिमी संस्कृति ने वैयक्तिकता को मौलिक मान कर इस प्रकार की पहचान को असंभव बना दिया था। अन्यथा वैयक्तिकता ईसाई धर्म और दर्शन के अनुसार भी केवल औपाधिकता और अतएव सत्य और श्रेयस् के साक्षात्कार में अनिवार्य बाधा ही है, क्योंकि इसीके

---

१. यहाँ यह द्रष्टव्य है कि डेकार्ट ने 'मैं हूँ' को असन्दिग्ध तथ्य के रूप में इसके असन्दिग्ध ज्ञान-विषय होने के आधार पर ही प्रमाणित किया था। किन्तु 'मैं हूँ' की ज्ञानात्मक असंन्दिग्धता मूलगामी : तत्त्व बोधोन्मुखः सन्देह के द्वारा ज्ञान के विषय से अपनी ओर निवर्तन के परिणामस्वरूप साधित होती है, विषयोन्मुख सहजता में नहीं। इसी से 'यह पुस्तक है' रूप ज्ञान में 'मैं हूँ ज्ञान सहज प्रस्तुत नहीं होता। यदि यह सहज प्रदत्त होता तो यह पशु में भी होना चाहिए, किन्तु वास्तव में यह सद्यः प्रदत्त विषय-ज्ञान में कहीं भी नहीं होता है। यदि इसे कांट के अर्थ में विषय-ज्ञान में सहगामी आकार मान भी लिया जाय तो भी यह डेकार्ट का प्रयोजन सिद्ध नहीं करता और प्रदत्त या तथ्य नहीं होता, इसकी असन्दिग्ध प्रदत्तता और तथ्यता केवल मूलगामी सन्देह के द्वारा विषय की शून्यता के दर्शन के माध्यम से ही फलित हो सकती है। (इस पर हमने 'विषय और आत्म' पुस्तक में तथा 'दर्शन का आरम्भ-बिन्दु' पुस्तक में विस्तार से विचार किया है। अधिक विस्तार के लिए 'विषय और आत्म' में ग्रंथ-निर्देश द्रष्टव्य है।)

कारण, उनके अनुसार, मनुष्य सत्य और श्रेयस् का साक्षात्कार नहीं कर सकता और ईश्वर पर निर्भर करता है। ईसाई धर्म-दर्शन मनुष्यकी ससीमता के कारण उसके लिए सत्य और श्रेयस् का ज्ञान असंभव मानता है, उसके अनुसार केवल ईश्वर में ही यह ज्ञान संभव है, यहाँ तक कि, उस दर्शन के अनुसार, मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि में इसका आभास पा सके इसके लिए ईश्वर का अवतरण अनिवार्य है। किन्तु यदि ईश्वर असीमित चैतन्थ और ज्ञान है और मनुष्य सीमित चैतन्य है, तब इसमें भेद चैतन्य का नहीं होकर आवरण और निरावरणता का ही हो सकता है। अब, यह किसी भी युक्ति से प्रमाणित नहीं हो सकता कि चैतन्य का आवरण उसका स्वभाव हो सकता है। यह अनुभव-सिद्ध भी नहीं है क्योंकि हम अपनी सीमित चेतना में भी ज्ञान और भाव (बींग) का विस्तार देखते हैं। तब, व्यक्ति इस विस्तार में आवरण का पूर्णतः निराकरण नहीं कर सकता, यह नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त, आवरण चैतन्य का स्वभाव नहीं होकर उसके स्वभाव का निषेध है, इसलिए व्यक्ति-उपाधि मौलिक नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार, इस उपाधि का, आवरण का, अतिक्रमण और ईश्वर-भाव की सिद्धि (और इस सिद्धि की यह कल्पना उपलब्ध नहीं नहीं होने पर ईश्वर-कृपा की सिद्धि) यह धर्म के लिए एक अनिवार्य पूर्वप्रतिज्ञा है और इस प्रतिज्ञा के अनुसार जीवन का, अपने अस्तित्व के सब स्तरों का, अनुशासन और नियोजन धर्म है। धर्म का दर्शन से यह एक आधार-भूत वैशिष्ट्य है कि धर्म जीवन का नियोजन है, यह आचरण दूसरे शब्दों में धर्म धर्माचरण है; जो दर्शन का भी एक अंग के रूप में समावेश करता है, जबकि दर्शन इसका अथवा किसी भी बोध का आत्मावगमन और आत्मविमर्श है। जो चैतन्य की बुद्धि-वृत्ति की विशेषता है। इसी से नागार्जुन उसे केवल बौद्धिक पदावली में समझने का प्रयत्न करते हैं, जो बुद्ध भाव (बींग) के रूप में सिद्ध है।

यहाँ आचरण का आशय समझना आवश्यक है। 'आचरण' का अर्थ है 'साध्य और सिद्ध के बीच के अन्तर को भरने के प्रयोजन के अनुसार कर्म।' धर्म के प्रसंग में इसका अर्थ होगा 'प्राप्तार्थ और परमार्थ के बीच के अन्तर को पाटने के अनुकूल कर्म।' यह एक अद्भुत् और रहस्यमय स्थिति है, क्योंकि यह अन्तर वास्तव में भाव या सत् का अपने-आप से अन्तर है, जो तर्क की लौकिक कोटियों के लिए अग्राह्य है, जैसा कि नागार्जुन के, और एक सीमा तक कांट के, विवेचनों में देखा जा सकता है। कांट ने लौकिक कोटियों को अस्तित्व की वास्तविक कोटियाँ मान कर इस रहस्यानुभूति को आस्था (फेथ) के रूप में स्थान दिया था और व्यक्त्युपाधि को सत् मान कर ईश्वर को पार्यन्तिक कल्पना और आस्था के कल्पित आश्रय के रूप में स्थान दिया था। नागार्जुन ने इनको अपारमार्थिक, सापेक्ष और परिणामत: शून्य कह कर

इस अन्तर को पारमार्थिक सत् के प्रमाण के रूप में देखा था। किन्तु वास्तव में भाव का यह अन्तर्गत व्यवच्छेद जैव क्रिया मात्र का स्वरूप है। केवल जैव क्रिया में यह आत्मचेतन: आत्मप्रकाशक नहीं होता और पूर्णतः विषय में तदाकार रहता है। इसका आत्मचेतन रूप मनुष्य के नैतिक बोध में, और अपनी आगन्तुकता' अभाव-परिच्छिन्नता, की अनुभूति में, प्रकट होता है। धार्मिक बोध के स्वरूप की यह विशिष्टता इसकी तुलना विज्ञान-बोध और दार्शनिक-बोध के साथ करने पर और अधिक प्रखरता के साथ व्यक्त हो सकती है। जैसाकि हमने आरम्भ में ही देखा, दर्शन बुद्धि का आत्म-विमर्श है। यह विमर्श एक विश्लेषणात्मक (एनेलिटिकल) व्यवस्था की खोज के प्रयत्न के रूपमें होता है। विश्लेषणात्मक व्यवस्था एक अखण्ड बोध का अन्तर्विभक्त होकर अभिज्ञान के माध्यम से अपनी अखण्डता की पुनः-प्राप्ति का प्रक्रम है।[1] यह अन्तर्विभक्ति और बोध की अखण्डता का आभास दोनों बुद्धि-व्यापार के स्वरूप में निहित हैं, जैसे चेतना की किसी भी अन्य वृत्ति में अपने से अपना विच्छेद और उसको विजित करने का प्रयत्न अन्तर्निहित है। किन्तु यह बोध और आन्तर व्यवच्छेद को विजित करने के ये सब प्रयत्न चेतना की उस-उस उपाधि से सम्बन्धित होते हैं, किन्तु ये बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी वृत्ति के स्तर पर आत्मचेतन भी नहीं होते। केवल बौद्धिक प्रयत्न है, जो अनिवार्यतः आत्मचेतन : आत्मोन्मुखः होता है, यह दूसरी बात है कि सभी दार्शनिक समान रूप से अपने कर्म की इस प्रकृति के सम्बन्ध में जागरूक

---

१. बौद्ध इसे केवल विभाजक के रूप में ही देखते हैं और परिणामतः इसे विकल्प कह कर सत् के प्रमाण में बाधक मानते हैं, किन्तु वे भी अतर्कित रूप से इसे अखण्ड के आत्म-पुनरभिगमन का प्रक्रम स्वीकार कर लेते हैं। उदाहरणतः दिङ्नाग के अनुसार' शब्द वस्तु-स्वरूप को प्रकट करने के स्थान पर परस्पर व्यावृत्त विकल्पद्वन्द्व सृष्ट करते हैं, जिनके सहारे पुरुषार्थी ऐसे क्षण-सन्तान तक पहुँचता है, जो अनभीष्ट नहीं होती। उदाहरण के लिए 'जल' शब्द से उपस्थापित 'अजल और अजल' का विकल्प-द्वन्द्व जलार्थी पुरुष के लिए मृत्तिका और मृग-तृष्णा आदि को छोड़ कर नदी, कूप आदि के जल-सन्तानों तक पहुँचने में संकेत बनता है।' (द्रष्टव्य-रत्नकीर्ति विरचित अपोहसिद्धि, हिन्दी अनुवाद डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डे, पृष्ठ ३०) तथा यहाँ यह द्रष्टव्य है, कि संवेद-ग्राह्य जल, जिसे दिङ्नाग सत् कहता है, इस विकल्प-द्वन्द्व के बिना मात्र संवित् रूप में नितान्त विपन्न भाव है। किन्तु वही जब विकल्पद्वन्द्व के माध्यम से होकर आत्मसाक्षात्कार का क्षण बनता है, तब वह बुद्धत्व के परमैश्वर्य से मंडित हो जाता है।

नहीं होते । किन्तु धर्म का मूल ही अस्तित्व मात्र की आत्म-विभक्ति, आत्मव्यवहितत्व, की आत्मचेतन अभिज्ञता से जनित व्याकुलता है और परिणामतः वह चेतना के सभी स्तरों दैहिक, ऐन्द्रिक, मानसिक, और बौद्धिक—पर एक साथ इस आत्मव्यवहितत्व को विजित करने का प्रयत्न करता है ।

यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि दैहिक या ऐन्द्रिक स्तरीय चैतन्य का आत्म-व्यवहितत्व को विजित करने का प्रयत्न क्रमशः क्षुधाओं और विषयाकर्षणों की सन्तुष्टि के रूप में होता है, जबकि धर्म में ये दोनों वर्जित हैं, जैसे बौद्ध, जैन, ईसाई आदि धर्म-सम्प्रदायों में, अथवा पूर्णतः रूपान्तरित रहते हैं, जैसे वैष्णव धर्म में । यह सही है, और यह सत्य धार्मिक बोध की, और इस बोध के द्वारा लक्षित भाव की अतल गम्भीरता को व्यक्त करता है । देहार्थ क्षुधा-शामकों में और इन्द्रियार्थ इन्द्रिय-विषयों में चरितार्थ होता है, किन्तु यह चरितार्थन चेतनागत अर्थ के विस्तार, गांभीर्य या प्रकर्ष की सम्भावनाओं से शून्य संवेद के घटित होने मात्र तक सीमित रहता है और इस स्तर पर आत्म-विभक्ति या आत्मव्यवहितत्व को विजित करने का प्रयत्न इस विजय में आगे बढ़ने के बजाय उसी स्तर पर आत्मविभक्ति को पुनः पुनः उत्पन्न करता है, जबतक कि यह क्षीण प्राण हो कर प्रयत्न में असमर्थ नहीं हो जाता । इस स्तर के सन्धानों का यह मूलगत स्वरूप है । विभक्ति पर विजय में क्रमिक प्रगति और भाव या सत् के ऐश्वर्य की वृद्धि केवल चैतन्य के उन स्तरों पर घटित होती है, जिनपर वह बाह्योन्मुख नहीं होकर प्रत्यङ्मुख होता है । दार्शनिक, वैज्ञानिक और कलात्मक आदि प्रकार के सन्धान इसी प्रकार के हैं । 'प्रत्यङ्-मुखता' का यहाँ आशय है अर्थ की विषय-मूल के बजाय विषयि-मूल में उपलब्धि । उदाहरण के लिए, विज्ञान का प्रसंग इन्द्रियार्थ है, किन्तु विज्ञान इन्द्रिय-सन्निकृष्ट अर्थ (इन्द्रिय-विषय) का अनु-संधान नहीं होकर इसके उस तत्व का, तथता या आधार का, अनुसन्धान है, जो विषयी में अवधारणात्मक रूप से स्फुट होता है । कांट द्वारा विज्ञान को 'प्रागनुभविक संश्लेषण' कहने का यही औचित्य है । किन्तु ये सब चैतन्य के औपाधिक अनुसंधान है, अर्थात्, चैतन्य इनमें उपाधियों के आवरण को नहीं देख पाता, केवल दर्शन में ही इस अवलोकन और इनके अतिक्रमण की संभावना रहती है । किन्तु धर्म का आरम्भ ही चैतन्य के सब अनुसन्धानों की औपाधिकता की अनुभूति से होता है, जैसे सर्वं दुःखं, सर्वं क्षणिकं, सर्वं शून्यम्, 'अथवा' येनाहं नाऽमृतास्याम किमहं तेन कुर्याम् ?' किन्तु जैसाकि हमने पीछे कहा, सर्व शून्यता का यह बोध वास्तव में युगपत् रूप से परिपूर्णता, परमार्थता, अमृतत्व और परमेश्वर्य का भी बोध है ।

●

८

मनुष्य, इतिहास तथा समाज विषयक वेदान्तीय अवधारणा

मैं मानता हूँ कि किसी भी दर्शन की पहली चिन्ता मानवीय परिस्थिति को समझना ही होता है, यह दूसरी बात है कि किसी युग में दार्शनिकों को इस परिस्थिति के कौन से सन्दर्भ या पक्ष अधिक आकर्षित करते हैं। पुराने दार्शनिक तो विशेष रूप से हमें मनुष्य के मूल्यों, अन्वेषणों, आशाओं और आशंकाओं के प्रति पर्युत्सुक और उत्कण्ठित दिखाई देते हैं, और बाद के समयों में भी हमें बहुत से दार्शनिक मिलते हैं, जो दर्शन को अमूर्त प्रत्ययों (एब्स्ट्रेक्ट कांसेप्ट्स) के प्रयोग के कौशल के रूप में नहीं देखते थे। वेदान्त दर्शन में, विशेष रूप से शंकर तक, हमें यही मानस देखने को मिलता है। इस प्रकार, चाहे वेदान्तियों ने मनुष्य की ऐतिहासिकता, तथा उसके इतिहास और समाज के प्रश्नों पर प्रत्यक्ष रूप से विचार नहीं किया, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह दर्शन इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता है या इन प्रश्नों का उत्तर देने से मना कर सकता है। मैं तो मानता हूँ कि ये प्रश्न किसी भी दर्शन के लिए कसौटी का काम दे सकते हैं कि उसमें इनका उत्तर जितना ही सन्तोषप्रद दिया जा सकता है, उतना ही वह दर्शन सन्तोषप्रद है। किसी दर्शन-व्यवस्था के सन्तोषप्रद होने की कसौटी के मैं तीन लक्षण मानता हूँ: एक तो यह कि वह अनुभव के निकट हो; दूसरे, कि वह अनुभव के विभिन्न आयामों को, किसी एक आयाम अथवा सैद्धान्तिक प्रत्यय में घटाये बिना, अपचित किये बिना, व्याख्यायित कर सके; और तीसरे, कि वह तदर्थ (एड्हाक) अवधारणाओं का सहारा नहीं ले। वास्तव में अनुभव के एक आयाम को दूसरे में घटाना (रिडक्शनिज्म) भी एक प्रकार से अनुभव से दूर जाना ही है। उदाहरण के लिए, 'मैं सोच रहा हूँ' को 'मेरे मस्तिष्क का स्नायुतन्त्र एक विशेष प्रकार से व्यवहार कर रहा है' में अनूदित करना, और इसी प्रकार 'यह कार्य अनुचित है' को 'यह मुझमें स्वीकृति की भावना उत्पन्न करता है'

में अनूदित करना अपचय (रिडक्शनिज्म) है। जो दार्शनिक ज्ञानमीमांसात्मक प्रश्नों पर विचार करते हुए एक प्रकार की तत्त्वमीमांसा को अपनाते हैं और नीति विषयक प्रश्नों पर विचार करते हुए दूसरे प्रकार की तत्त्वमीमांसा को, वे तदर्थवादी कहे जा सकते हैं। पाश्चात्य अनुभववादी और तार्किक प्रत्यक्षवादी दार्शनिक इनमें से पहले वर्ग में आते हैं और लोकभाषा विश्लेषणवादी और बहुत से अनुभववादी दूसरे (तदर्थ-वादियों के) वर्ग में। उदाहरण के लिए मूर की ज्ञानमीमांसा और नीतिमीमांसा में कोई सम्बन्ध नहीं देखा जा सकता, न रसल की ज्ञान-मीमांसा और उसके समाज दर्शन तथा नीतिदर्शन आदि में कोई सम्बन्ध है। मैं समझता हूँ कि वेदान्त इस दृष्टि से अपने ग्रहण या अवधारण में एक व्यापकतम दर्शन-व्यवस्था है; दूसरे शब्दों में, यह सन्तोष-प्रदता की कसौटी पर सब से अधिक पूरी उतरने वाली कुछ थोड़ी सी व्यवस्थाओं में से एक है।

अब, यह दार्शनिक व्यवस्था क्या है ? और यह किस प्रकार मनुष्य की ऐतिहा-सिकता और सामाजिक यथार्थ का आकलन करती है ? अथवा कहें, इन्हें समझने में हमारी सहायता करती है ? इसका उत्तर देने के लिए हम बहुत संक्षेप में वेदान्तिक तत्त्वमीमांसा को देखेंगे और उसके आधार पर इन प्रश्नों पर विचार करेंगे।

वेदान्त के अनुसार सत् चिदानन्दस्वरूप है। इसमें आनन्द तत्त्व जगत्-प्रतिभास की विद्यमानता का आकलन करने के लिए है।[1] क्योंकि सत् आनन्दमय चित् : चिदानन्द : है, इसलिए इस जगत् का सत्-तत्व अथवा उपादान भी चिदानन्द ही है; जहाँ तक यह ऐसा नहीं है, वहाँ तक यह मात्र प्रतिभास, दूसरे शब्दों में व्यवहारमात्र, प्रतीतिमात्र है। तैत्तिरीय उपनिषद् में एक मंत्र है, 'जो भी यह सृष्टि है, वह सब रस मात्र है।' इसी मन्त्र में आगे कहा है, की यदि यह ब्रह्म आनन्दस्वरूप नहीं होता तो कौन जीवित रह सकता था, कौन श्वास ले सकता था ?'[2] इसी को कबीर ने भी एक पद में कहा है जिसका अर्थ है—यदि मैं कहूँ कि ब्रह्म जगत् में है, तो यह झूठ होगा, क्योंकि तब उसकी दिव्यता, अखण्डता और निर्मलता पर आंच आयेगी, किन्तु यदि मैं कहूँ कि वह जगत् में नहीं है, तो क्या यह बेचारा जगत् लाज से मर नहीं

---

१. असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत्। तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात् तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा-नन्दी भवति।

२. को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।

(तैत्तिरीय, अनुवाक ७)

जायगा ?'[1] क्योंकि तब यह उस आधार से ही वंचित हो जायगा, जो इसे सार्थकता देता है। इसी प्रकार अथर्ववेद में—'उसी के रूप से ये पेड़ हरे-भरे हैं और लताएँ पल्लवित-पुष्पित हैं।[2] कुछ समय पहले ये ऐसे नहीं थे, कुछ समय बाद भी ये ऐसे नहीं रहेंगे, इसलिए इनका यह हरापन और उत्फुल्लता, तथा यह पीलापन और मुरझाहट, दोनों इनके तत्त्व नहीं हैं, इनके सत्-धर्म-नहीं हैं। किन्तु कोई स्वरूप है, कोई तत्त्व हैं, जो अंकुर के रूप में फूटने से ले कर इनके आन्तर प्राण तत्त्व (एलान वाइटल) के व्यय होने तक के क्रम को, और पुनः इसी प्रकार के नये क्रम के आरम्भ होने और अन्त होने के क्रम को धारण करता है। इस प्रकार, यह सब प्रतिभास है, नाम-रूप है, और तब तक सत्य भी है, जब तक कि यह तात्त्विक और अनिवार्य सृजनात्मिकता शक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाता है। किन्तु यदि इस अभिव्यक्ति को अपने-आप में ही पर्याप्त और पूर्ण मान लिया जाता है, तब यह अविद्या और मिथ्यात्व है।

यहाँ वेदान्त की कारणता की अवधारणा को संक्षेप में देखना भी प्रासङ्गिक होगा। वेदान्त के अनुसार, सत् में कोई परिवर्तन संभव नहीं है, क्योंकि यदि सत् में परिवर्तन को मानें तब प्रत्येक अगले क्षण पर पिछला क्षण असत् हो जायगा। परिवर्तन को किसी शाश्वत, अखण्ड, आधार के बिना मानने में, और उससे भी अधिक, उसे कारण कार्य के रूप में देखने में, और भी कड़ी कठिनाइयाँ हैं। इसलिए शंकर कारणता को वास्तव नहीं मानते हैं। इसको प्रदर्शित करने के लिए वे उदाहरण देते हैं, कि कुण्डल हार और चूड़ी तीनों में स्वर्ण समान और अपरिवर्तित ही रहता है, ये तीन रूप-भेद तो हैं, किन्तु इस अर्थ में कार्य नहीं हैं कि स्वर्ण में कोई परिवर्तन घटित होता है। ठीक इसी प्रकार संसार है, विविध नाम और विविध रूप हैं, परन्तु अपने उपादान में यह ब्रह्म : चिदानन्द : ही है। वास्तव में 'आनन्द' शब्द यहाँ प्रतीतिगत वैविध्य के आकलन के लिए ही है—सोऽकामयत, बहु स्याम, प्रजायेयेति[3] (उसने कामना की कि अनेक हो जाऊँ, अखण्ड भाव को वैविध्य के माध्यम से व्यक्त करूँ।) यहाँ अनुभववादी, भौतिक विज्ञानवादी (फिजिकलिस्ट) और लोक-संज्ञानवादी (कामनसेंसिस्ट्स)

---

१. ऐसा लो तत ऐसा लो, केहि विधि कहौं गभीरा लो।
बाहर कहौं तो सतगुरु लाजै, भीतर कहौं तो झूठा लो।
(कबीर पदावली शब्द २८।)

२. तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरित स्रजः। (अथर्व १०-८-३१।)

३. तैत्तिरीय अनुवाक ६।

दार्शनिक आपत्ति करेंगे कि, इस सब से यहाँ प्रयोजन क्या है, यह हमारे दैनंदिन अनुभव को या वैज्ञानिक कर्म को समझने में हमारी क्या सहायता करता है ? यहाँ इस लोक-बुद्धि प्रमाणवाद और भौतिकविज्ञान-बुद्धि-प्रमाणवाद की मूढ़ता के सम्बन्ध में कुछ विशेष कहने का आकर्षण दुर्दम्य होने पर भी मैं उसका संवरण करूँगा और वेदान्त की ओर से प्रस्तुत प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न करूँगा। एक प्रश्न है, वेदान्त के मत में, जो कुछ है, सब ब्रह्म ही है; और इस प्रकार यह देश-काल-वैविध्य ऐतिहासिक परिस्थिति सब अविद्या है। किन्तु मैं यहाँ और अब अस्तित्ववान् हूँ, मेरी एक ऐतिहासिकता और ऐतिहासिक परंपरा है, जिसमें मैं एक घटक हूँ। वेदान्त मुझे सौ कहे कि मैं ब्रह्म हूँ और यह सब ब्रह्म है, किन्तु मैं, तू और वह, तथा समाज और इतिहास, यह सब साक्षात् है, वेदान्त इस तथ्य का कैसे आकलन करता है ? एक दूसरा प्रश्न है :[1] मनुष्य का सामाजिक अस्तित्व और सामाजिक उत्तरदायित्व होता है। वेदान्त इस परिस्थितियों का क्या समाधान करता है ? दूसरे शब्दों में, वेदान्त

---

१. Russell, B.—Mysticism and Logie, and Other Essay; Essay III : A Free Man's Worship. (Gearge Allen and unwin, hondon, 1910)

(यहाँ "स्वतंत्र मनुष्य" का अर्थ है, जो किसी बाहरी मानदण्ड को, जैसे ईश्वर, धर्म, परम्परा आदि द्वारा विहित मानदण्ड को, नहीं मानता। किन्तु तब अन्य कौन सा मानदण्ड हैं ? रसल में एक अनालोचित मान्यता है कि यह मानदण्ड तर्कोचितता (रैश्नैलिटी) का है। किन्तु तब प्रश्न होगा कि क्या इसे मनुष्य का तत्त्व (एस्सेंस) कहा जा सकता है ? रसल के दर्शन में ऐसा मानने के लिए कोई आधार नहीं है। रसल तर्कणा को न सत् का प्रकाशक मानता है और न उसका प्रकाशन। इसी से मैं इसे "अनालोचित मान्यता" कह रहा हूँ। सार्त्र अपने को सब अनालोचित मान्यताओं से मुक्त रखने का दावा करता है, इसलिए उसका "स्वतन्त्र मनुष्य" तत्त्व-रहित अस्तित्व है—जगत् में शून्य से धकेला हुआ (Thrown into the World), किन्तु तब उस प्रतिबद्धता (Commitment) के लिए, जिसे सार्त्र इतना महत्त्व देता है, क्या आधार होगा ? मैं क्यों अपने कार्यों के परिणामों का उत्तरदायित्व स्वीकार करूँ ? इसका उत्तर सार्त्रीय अस्तित्ववाद नहीं दे सकता। इसी को मैं तदर्थवाद कहता हूँ, जो रसल में सार्त्र से अधिक है।

हमारी वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं के समाधान में कैसे सहायक हो सकता है ?

कुछ वेदान्ती बिचारक ऐसे प्रश्नों का उत्तर देते हैं कि वेदान्त के आचार्यों के सम्मुख ये प्रश्न नहीं थे, और यह वास्तव में ही आवश्यक नहीं है कि कोई दार्शनिक इस प्रकार की समस्याओं पर प्रत्यक्ष रूप से विचार करे ही। किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि कोई दार्शनिक व्यवस्था इन या इस प्रकार के अन्य प्रश्नों का उत्तर देने से बच सकती है। वास्तव में प्रथम प्रश्न में यह अर्न्तनिहित है, कि वेदान्त इस प्रश्न का उत्तर देता है, प्रश्न कर्त्ताओं की आपत्ति यह है कि वह इन प्रश्नों का उत्तर असन्तोषजनक देता हैं। उनके मतानुसार, जो कि एक साधारण प्रचलित मत है, वेदान्त ऐतिहासिकता और सामाजिकता को असत् प्रतीति मानता है, जब कि यही एक अप्रत्याख्येय सत्य है कि 'इतिहास है, मैं इतिहास के क्षण विशेष पर स्थित हूँ और उस इतिहास-प्रवाह में मैं अकेले ही क्षण पर अतीत हो जाऊँगा।' इसमें सन्देह नहीं कि यह सत्य है, साक्षात् सत्य है, किन्तु इससे सिद्ध क्या होता है; इस सत्य की सार्थकता क्या है ? और यह सत्य इस सत्य का बाध कैसे करता है कि मैं इस ऐतिहासिक का, काल-प्रवाहमयता का, अतिक्रमण करता हूँ ? पहले हॉब्स ने और मूर ने क्रमशः पत्थर को ठोकर मार कर और हाथ उठा कर यह सिद्ध किया था कि बाह्य जगत् का अस्तित्व है। किन्तु इस प्रकार के प्रमाणों से आप किस प्रमेय को स्थापित करना चाहते हैं ? कम से कम कोई वेदान्ती यह नहीं कहता कि हाथ पत्थर और दिक्काल नहीं हैं। **किन्तु मनुष्य की उद्विग्नता दूसरी गहनतर समस्याओं को ले कर भी है, जिनके उत्तर की अपेक्षा उसे इन प्रमाणों और प्रमेयों से आगे जाने के लिए बाध्य करती है।**

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, यह ज्ञातव्य है कि कोई भी दर्शन किसी समाज विशेष या परिस्थिति विशेष के सम्बन्ध में कोई विशेष निदान नहीं बताता, बह स्वरूप और अर्थ विषयक प्रश्नों पर विचार करता है। इसलिए उनकी ओर से वेदान्तियों के प्रति उचित प्रश्न हो सकता है कि समाज का अस्तित्व और स्वरूप क्या है और व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का स्वरूप क्या है ? उपर्युक्त तीनों प्रश्नकर्त्ताओं की वेदान्त के सम्बन्ध में उद्विग्नता का स्रोत यह एक अस्पष्ट और अविचारित धारणा प्रतीत होती है कि 'वेदान्त जबकि जगत् को अविद्यामूलक मानता है और केवल ब्रह्म को सत्य मानता है, तब वह भौतिक और सामाजिक यथार्थ को केवल नकार ही सकता है, यही कारण है कि इस देश के समाज में अकर्मण्यता और गतिहीनता परिलक्षित होती है।' इसके सम्बन्ध में सैद्धान्तिक चर्चा से पहले मैं यहाँ स्वयं शंकराचार्य, कबीर

और नानक आदि के जीवनों की ओर संकेत करूँगा। शंकर केवल ३२ वर्ष तक जिये और इतने कम समय में उन्होंने जितना कार्य किया उतना कार्य बहुत कर्मठ व्यक्ति भी पूरी आयु में नहीं कर पाते। उन्होंने तथा कबीर और नानक ने वैचारिक और सामाजिक क्षेत्रों में जितने बड़े परिवर्त्तनों का सूत्रपात किया, उतना कम ही किसी समाज-सुधारक और विचारक ने किया होगा; और इन लोगों से बढ़ कर दूसरा कौन वेदान्ती होगा ?

× × ×

इस संक्षिप्त अवान्तर चर्चा के बाद हम अब इन प्रश्नों पर वेदान्त की ओर से सैद्धान्तिक विचार करेंगे। इस प्रसंग में यहाँ आधारभूत प्रश्न हो सकता है कि संसार के बीच मनुष्य का क्या स्वरूप है ? वह ब्रह्म है, पुरुष है, या भूत द्रव्य है ? ये सब उत्तर यहाँ अप्रासंगिक होंगे, क्योंकि ये **मनुष्य का संसार के बीच स्वरूप** को संतोषप्रद रूप से प्रस्तुत नहीं करते हैं। इस प्रश्न का उत्तर हो सकता है कि **'मनुष्य' वह सत्त्व या भाव (बींग) है, जो अहन्ता और सार्वभौमता के बीच, वास्तव और साध्य के बीच, तथा आगन्तुक और अनिवार्य (एक्सीडेंटल एण्ड एसेंश्यल) के बीच तनाव में अवस्थित है। यह तनाव इस बात का संकेत है कि वह इन दोनों छोरों में से किसी एक से सम्बन्धित नहीं है, वह एक-साथ दोनों से सम्बन्धित है।** मनुष्य से निम्नतर स्तर की चेतना इस प्रकार दो छोरों के बीच विभक्त नहीं होती, इसी से वहाँ कोई परिस्थिति **मानवीय परिस्थिति** के अनुरूप नहीं होती। यहाँ उदाहरण के लिए मृत्यु की वस्तु-स्थिति को लें। जैसा कि हम जानते हैं, मनोवैज्ञानिक और नृतत्त्ववैज्ञानिक (एन्थ्रोपोलोजिस्टस) इसे एक ऐसी घटना के रूप में देखते हैं, जो मनुष्य में भय उत्पन्न करती है, जिसे झुठलाने के लिए मनुष्य परलोक आदि की कल्पनाओं का आविष्कार करता है। किन्तु मनुष्य के 'मृत्यु-बोध' की ऐसी व्याख्याएँ वास्तव में इन लोगों के मस्तिष्क की केवल दरिद्रता ही प्रकट करती हैं। मृत्यु से भय में मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु मृत्यु-बोध मानव-चेतना में अपनी एक बिल्कुल दूसरी ही संरचना (स्ट्रक्चर) को उद्घाटित करता है, जिसे मानवीय परिस्थिति का विशिष्ट और आधार-भूत लक्षण कहा जा सकता है, और वह यह कि यह उसे उसकी सत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध में एक मौलिक प्रश्न के साथ चुनौती देता है—कि 'क्या मैं केवल एक आगन्तुक घटना मात्र हूँ, या कि मेरा कोई अनिवार्य धर्म-स्वभाव भी है ? 'प्राचीनतम समयों से मानव-मृत्यु के साथ सम्बन्धित संस्कार प्रश्न की इस संरचना के अस्फुट बोध की ओर इंगित करते हैं, और साथ ही यह भी इंगित करते हैं कि उस मनुष्य ने इसका उत्तर यह दिया है कि वह एक आगन्तुक घटना मात्र नहीं है, बल्कि अनिवार्यता

है। किन्तु भारत में बहुत पुराने समयों में ही एक उत्तर इसके ठीक विपरीत भी दिया गया था और वह था चार्वाकों के द्वारा, कि मनुष्य का कोई अनिवार्य स्वरूप नहीं है, वह मात्र एक आगन्तुक घटना है। इस उत्तर का स्वाभाविक परिणाम संत्रास और अनास्था ही हो सकता था, जो इस परामर्श में देखा जा सकता है कि 'जबतक बने खा-पी लो।' 'इस परामर्श में संत्रास और उद्विग्नता स्पष्ट हैं, जिसे पश्चिम के नास्तिक अस्तित्ववादियों ने पहचाना है, और उस पर विजय पाने के लिए कुछ दूसरे उपायों का आविष्कार करने का प्रयत्न किया है। इन उपायों के रूप में वे 'आत्म-सर्जन' और 'उत्तरदायित्व' की बात करते हैं। किन्तु प्रश्न होगा, किस प्रतिमा (इमेज) या आदर्श के अनुसार आत्म का सर्जन करना है, क्योंकि यदि प्रतिमा की कोई वस्तुमूलक प्रामाणिकता नहीं है, तो वह किसी के लिए भी विश्वासप्रद नहीं हो सकती, वह केवल एक कपोलकल्पना अथवा यावद्-व्यवहार के लिए स्वीकृत नियम जैसी बात ही हो सकती है। इसी प्रकार 'उत्तरदायित्व' के लिए भी—मेरे उत्तरदायित्व का स्रोत और लक्ष्य क्या होगा ? मैं समझता हूँ कि सार्त्र और उसके अनुयायियों के पास इसका कोई विश्वासप्रद उत्तर नहीं है। बर्ट्रेंड रसल ने अपने एक लेख 'स्वतन्त्र मनुष्य की पूजा' में एक प्रकार की भावुकता के द्वारा उस अनास्था की परिस्थिति से, जो उसके दर्शन से उपपादित होती है, ऊपर उठने का प्रयत्न किया है; जिसका अच्छे गद्य के रूप में तो मूल्य अवश्य है, किन्तु मनुष्य विषयक दर्शन के रूप में कोई अर्थ नहीं है। इस परिस्थिति का वेदान्तिक उत्तर है कि 'मनुष्य अमृत स्वरूप (एसेंश्यल) है, यद्यपि अधिकांश में वह अपने को उसके साथ तादात्म्य समझे रहता है. जो मात्र आगन्तुक है, और उसी आगन्तुक को वह अमृतत्व और अपना स्वरूप माने रहता है।' वेदान्त की इस बात को समझने के लिए किसी ट्रांसेंडेंटल मैडीटेशन की आवश्यकता नहीं है; यह तथ्य किसी पश्चात्ताप की अनुभूति पर या किसी एषणा की निरर्थकता के बोध की संरचना (स्ट्रक्चर) पर मनन करने से भी देखा जा सकता है।

अब, उत्तर जो भी ठीक हो—चार्वाक, रसल या सार्त्र का ठीक हो या वेदान्त का, महत्त्वपूर्ण यह है, कि यह एक विशिष्ट रूप से मानवीय प्रश्न है, जो मानवीय परिस्थिति के आधार का घटक है, और वेदान्त इस प्रश्न का एक उत्तर देता है, जिस उत्तर ने शताब्दियों तक एक समाज के मानस को अपने शासन में रखा और एक समृद्धतम संस्कृति को आधार दिया।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यह उत्तर कहाँ तक चिन्तन को आलोकित करता है और तर्क-युक्ति की अपेक्षाओं की पूर्ति करता है ? इसके उत्तर के लिए यहाँ हम एक दूसरा सम्बन्धित प्रश्न लेंगे, जो इस विचार विमर्श को व्यापकतर भी बनाता है,

वह है मनुष्य की ऐतिहासिकता का। इस प्रश्न का ठीक-ठीक क्या अर्थ है? जो लोग मनुष्य की ऐतिहासिकता की बात करते हैं, वे प्रायः ही 'मैं' यहाँ, और अब' की बात करते हैं, दूसरे शब्दों में, एक अस्मिता की विद्यमानता की बात। किन्तु 'यहाँ' और 'अब' दोनों शब्द ऐतिहासिकता को व्यक्त नहीं करते, कि मैं यहाँ हूँ या हो सकता था, अथवा इस समय में वास्तव में यहाँ हूँ ये दोनों ही स्थितियाँ किसी भी दृष्टि से मात्र आगन्तुक हैं। मैं इस समय और इस विशिष्ट बिन्दु पर हूँ, यह निश्चित रूप से एक तथ्य है, किन्तु यह तथ्य दो शृंखलाओं (देश और काल) की असंख्य संभावनाओं में से एक आगन्तुक वास्तव मात्र है। इस तथ्य की ऐतिहासिकता में प्रवेश करने के लिए न केवल इसका व्यापकतर देशकालात्मक सातत्य और तारतम्य में लय होना ही आवश्यक है, बल्कि एक अर्थ और प्रयोजन से इसका अन्तर्गर्भ होना भी आवश्यक है,[1] वह अर्थ और प्रयोजन चाहे आत्मचेतन नहीं भी हो। अब, यहाँ 'मैं' का क्या अर्थ है? इसकी व्याख्या के लिए यदि हम इतिहासवाद (हिस्टारिसिज्म) को स्वीकार करें तो 'मैं' ऐतिहासिक रूप से पूर्णतः अनिवार्य (नेसेसरी) और अस्तित्वात्मक रूप से पूर्णतः आगन्तुक होगा। ऐतिहाहिक रूप से अनिवार्य इसलिए क्योंकि 'मैं' 'यहाँ, और 'अब' तीनों ही कारणात्मक रूप से नियत शृंखला में एक साथ निर्धारित होंगे और एक ही तत्व (एस्सेंस) के उपलक्षण (एक्सीडेंट्स) होंगे। और अस्तित्त्वात्मक रूप से आगन्तुक इसलिए होगा, क्योंकि यदि मैं आत्म (विषयी) के रूप में इस अतिक्रामी (मेरे से स्वतन्त्र, पर) ऐतिहासिकता को अपने ज्ञान और अनुभव की पूर्ण अन्तर्वस्तु, और सत्त्व (बींग) तथा अस्तित्व का पूर्ण निर्धारक मान भी लूं, तो भी इसे केवल अपने भाग्य के रूप में ही ऐसा मान सकता हूँ, अपने तत्व के रूप में नहीं। इसलिए मेरे लिए यह केवल आगन्तुक है, कि मैं इस इतिहास के इस बिन्दु पर अवस्थित हूँ, और यह विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति मेरे सत्त्व और अस्तित्व को अन्तर्वस्तु प्रदान कर रही है; और यदि इतिहासवाद को नहीं मानें, तब आपको यह बताना होगा कि 'मैं' का क्या स्वरूप है, और उसकी ऐतिहासिकता से आपका क्या तात्पर्य है? वास्तव में 'मैं' को यदि हम वेदान्त के समान निरुपाधिक सत् पर आरोप के रूप में नहीं देखें तो इसके तत्त्व को आगन्तुक होने से नहीं बचा सकते। यहाँ उदाहरण के लिए हम डेकार्टीय आत्म-स्थापन (सेल्फ अफर्मेशन) को ले सकते हैं। अब, यह सही है कि डेकार्टीय आत्मस्थापन आत्म (मैं) के अस्तित्व को निस्सन्दिग्ध बनाता है—विषय के अस्तित्व में सन्देहशील आत्म का अस्तित्व निश्चित रूप

---

१. यशदेव शल्य-विषय और आत्म, अध्याय ५ : आत्म और इतिहास, तथा : इतिहास-बोध अध्याय ६। (अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, १९७२)।

से स्वतः प्रमाण और स्वतः स्पष्ट है; पर यह सन्देह इसके अस्तित्व को अनिवार्य नहीं बनाता; दूसरे शब्दों में, जबकि यह स्वतः सिद्ध है कि मैं हूँ, यह केवल एक संयोग मात्र है कि मैं हूँ—मैं नहीं भी हो सकता था। इस प्रकार 'मैं' के अस्तित्व को स्वतः प्रमाणता की स्थापना उसे सांयोगिकता से मुक्ति नहीं दिला पाती। वेदान्त के अनुसार, ऐतिहासिकता एक वस्तुस्थिति है और मैं इसमें सम्मिलित हूँ, इसका निषेध नहीं किया जा सकता, किन्तु यह मेरा स्वरूप नहीं है, यद्यपि यह ऐतिहासिकता और इसमें मेरा सम्मिलित होना दोनों परिभाषित मेरे स्वरूप से ही होते हैं। वेदान्त के अनुसार, इतिहास को आत्मप्रवासित आत्मा के आत्मलाभ के प्रयत्नों से निर्मित मार्ग के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसका अर्थ विचारणीय है?

मैंने पीछे मानव-व्यक्ति को तनाव से परिभाषित किया था; इसका वही अर्थ है। इसे ज्ञानमीमांसात्मक पदावली में कहें तो कहेंगे कि व्यक्ति उस अर्थ से परिभाषित होता है, जिसे उसकी जीवनी प्रतीक रूप से व्यक्त करती है। ठीक इसी प्रकार वैश्व इतिहास ब्रह्म (सच्चिदानन्द) को प्रतीकतया 'व्यक्त करता है, और विभिन्न मानव-इतिहास इस वैश्व इतिहास के घटक हैं। यदि इस रूपक के सम्यक् ग्रहण में कठिनाई आ रही हो, तो इसके लिए एक नृत्य अथवा सम्मिलित वादन (आर्केस्ट्रा) को उदाहरण रूप में ले सकते हैं। इसकी सत्ता एक प्रत्यय—एक अवधारणा—में प्रतिष्ठित होती है, जिसे कि ये प्रतीकित करते हैं, किन्तु वह इनके सम्पादनों से अभिन्न नहीं होता। इनका सम्पादन—नर्तन और वादन—काल में होता है, किन्तु काल उन प्रतीकों का, जिनकी ये (नृत्य-वादन) अभिव्यक्तियाँ हैं, धर्म (एस्सेंस) नहीं होता; बल्कि उनके लिए यह बाहरी भी होता है। इसी प्रकार एक विशिष्ट संपादन प्रतीकित प्रत्यय के लिए केवल एक आगन्तुक घटना मात्र होता है।

यहाँ एक अपत्ति हो सकती है कि यह वास्तव इतिहास नहीं है, यह उसका प्रत्ययात्मक आदर्शीकरण (आइडियलाइजेशन) है। तब हम पूछेंगे कि. वास्तव इतिहास क्या है? आपको यह ज्ञात ही है कि इसके सम्बन्ध में कितने विभिन्न सिद्धान्त हैं। स्थूल रूप में हम इन सिद्धान्तों को तीन वर्गों में बांट सकते हैं—एक, जो इतिहास को लक्ष्योन्मुख प्रगति के रूप में देखता है, दूसरा, जो इसे इतिहासकार की कल्पनारूढ़ कृति के रूप में देखता है, और तीसरा, जो इसे ऐसे घटना क्रम के रूप में देखता है, जिसमें मनुष्य की क्षुद्रता और धूर्तता तथा संयोग और कारणता तीनों घटक बनते हैं। इनमें पहले वर्ग को हम इतिहासवादी, दूसरे को विषयिनिष्ठतावादी और तीसरे को सन्देहवादी कह सकते हैं। पहले वर्ग में हेगल मार्क्स, स्पेंगलर, भारतीय

पुराण और ईसाई दार्शनिक रखे जा सकते हैं, दूसरे में क्रोचे, कलिंगवुड आदि प्रत्ययवादी और हैंपल आदि अनुभववादी विचारक रखे जा सकते हैं, और तीसरे वर्ग में वे विचारक रखे जा सकते हैं, जो यह मानते हैं कि यदि क्लियोपैट्रा की नाक चार-छः मिलीमीटर और लम्बा होता तो मानव-इतिहास का रूप आज कुछ और होता। यहाँ इन मतों के सम्बन्ध में कोई विचारविमर्श सम्भव नहीं है, किन्तु इससे हम यह दिखाना चाहते हैं कि इतिहास का विषयनिष्ठ अस्तित्व केवल वही मानते और मान सकते हैं, जो किसी प्रकार का आदर्शीकरण करते हैं, उस आदर्शीकरण का निर्देश-बिन्दु चाहे मार्क्स के समान बाहर आर्थिक शक्तियों जैसी किसी वस्तु को रखें और चाहे हैगल के समान शुद्ध प्रत्यय या स्पिरिट जैसी किसी वस्तु को। इसका कारण है. ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष सत्ता के एक बहुत लघु खण्ड का ही ग्रहण कर सकता है, और इसीलिए व्यापकतर क्षेत्रों को इन खण्डों के संकलन के रूप में ही देख सकता है, व्यापकतर क्षेत्रों को उनकी समग्रता में केवल बुद्धि ही प्रत्यय के माध्यम से ग्रहण कर सकती है।

किन्तु शंकर के अनुसार, ऐतिहासिकता मानव-परिस्थिति की एक अनिवार्य घटक है, जिसका उसे अतिक्रमण करना होता है। किन्तु यह अतिक्रमण मार्क्सीय अतिक्रमण से, जिसमें द्वन्द्वात्मक प्रगति का सामरस्य में पर्यवसान (कल्मीनेशन) होता है, भिन्न प्रकार का है; इसमें भ्रान्ति का, अविद्या का, अतिक्रमण करना होता है।

समाज क्या है? इस वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में वेदान्त का क्या दृष्टिकोण है? इस प्रश्न के दो पक्ष हो सकते हैं, एक तो यह कि उसमें सामाजिक संस्थाओं और नियमों का रूप और स्थान क्या है, और दूसरा कि स्वयं समाज का सत्ता की दृष्टि से क्या स्थान है। इनमें पहले प्रश्न का उत्तर बहुत सरल है; जहाँ तक सामाजिक संस्थाओं की सत्ता के प्रकार का प्रश्न है, वेदान्त इन्हें समाज में मूलित देखता है, जहाँ तक इनकी युक्तता या प्रामाणिकता (वैलीडिटी) का संबन्ध है, वेदान्त इन्हें सहज नैतिक बोध से प्रमाणीकरणीय (वेरीफायेबल) मानता है। इसके लिए उपनिषदों से, गीता से, और निर्गुणिये सन्त कवियों से जितने चाहे उदाहरण दिये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए एक विशेष प्रश्न लें—समानता का, वेदान्त का इसके सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण है? इसके लिए यहाँ दो उदाहरण देना प्रासंगिक होगा—एक गीता से और दूसरा कबीर से। गीता वर्ण-व्यवस्था को व्यक्तिगत गुणों और व्यवसाय पर आधारित करती है, और इसमें किसी प्रकार की परमार्थता नहीं मानती।[1] इस प्रकार परमार्थतः तो ये कोई भेद हैं, ही नहीं, केवल सामाजिकव्यवस्था-मूलक भेद ही

---

१. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म विभागशः। गीता—

हैं। दूसरे ये भेद ही उच्च-नीच रूप नहीं हैं, क्योंकि ये सामाजिक व्यवस्था के प्रयोजन से हैं। इसकी पुष्टि 'अपने धर्म में मृत्यु भी श्रेयस्कर है, के परामर्श से भी होती है। किन्तु वैयक्तिक गुणों की दृष्टि से उच्च-नीच का एक भेद है; किन्तु यह भेद तात्त्विक नहीं हो कर औपाधिक, अर्थात् आरोपित है। इसके स्पष्टीकरण के लिए यहाँ कबीर से एक उदाहरण देना उपयुक्त होगा: वे कहते हैं 'जात न पूछो साधु की, पूछ लीजियो ज्ञान', इसी प्रकार, 'तू बाह्मन में कासि का जुलाहा, बूझहू मोर गियाना।' कबीर के इन पदों में एक निहित मानदण्ड है, कि ऊँच-नीच का भेद ज्ञान के आधार पर है, वंश के आधार पर नहीं। यह ज्ञान भी हमारे समान पुस्तकों से सीखा हुआ नहीं, बुद्धि-विकल्पों को जोड़ने तोड़ने के कौशल का भी नहीं, बल्कि आत्म साधना-रूप है। इसी से ज्ञान की परीक्षा के लिए उसने बाह्मन को और जुलाहे को चुना है। यह बात गीता में भी मिलेगी और दूसरे सब वेदान्त-ग्रंथों में भी। आप कहेंगे, 'यह आदर्श तो प्रजातन्त्र में भी स्वीकृत है, किन्तु वह सामाजिक मनुष्य में समानता स्वीकार कर लेने के बाद। अब प्रश्न है, कि क्या वेदान्त भी मनुष्य की समानता इस प्रकार स्वीकार करता है?' वास्तव में प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त में समानता के दो आधार हैं' एक सत्तामीमांसात्मक और दूसरा कानूनपरक, जो अन्ततः नैतिक बोध में मूलित है। जहाँ तव सत्तामीमांसीय आधार का सम्बन्ध है, पश्चिम में मानव-एकता के प्रवक्ता लोग मनुष्य को सामान्यतः मनोदैहिक (साइको-सोमैटिक) तन्त्र के रूप में ही देखते हैं। वेदान्त भी उसे ऐसे मनोदैहिक तन्त्र के रूप में ही देखता है, किन्तु इस तन्त्र को उसका स्वरूप या परमार्थ नहीं मानता। उसके अनुसार यह तन्त्र अपने अर्थ और प्रामाण्य के लिए सत्ता के एक दूसरे स्तर की अपेक्षा करता है। इन दो स्तरों का सम्बन्ध ऐसे स्तर-क्रम (ग्रेडेशन) को जन्म देता है, जिसका कबीर के ऊपर उद्धृत पद में उल्लेख है—अर्थात् मूल्य-बोध और मूल्य-सिद्धि का स्तर-क्रम, जिसमें व्यक्ति-व्यक्ति में उच्च-नीच का भेद है। किन्तु यह असमानता आधारभूत नहीं है, केवल औपाधिक है, जबकि समानता आधारभूत है। इसके विपरीत मनोदैहिक मनुष्य की समानता इस योग्यता के रूप में है, कि मनो-भौतिक कारण और परिवेश समान होने पर सब व्यक्ति न्यूनाधिक समान होंगे। इस प्रकार इस अवधारणा में समानता का निर्धारक तत्त्व बाहरी परिस्थितियाँ हैं जबकि मानव-व्यक्ति निर्धारक प्रभावों के ग्रहण करने वाले यन्त्र के रूप में समान हैं। 'सब मनुष्य समान उत्पन्न होते हैं, का तब अर्थ होगा कि मनुष्य का मनोदैहिक यन्त्र बाह्य कारणों से प्रभाव-ग्रहण की योग्यता में समान हैं। जहाँ तक 'कानुन के सामने समानता का प्रश्न है, यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से नैतिक युक्तिमूलक है, जिसका मनुष्य की तत्त्व-मीमांसीय अवधारणा से कोई सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। वेदान्त इस नैतिक

तर्क को उस नैतिक साक्षात्कार (मॉरल इन्ट्यूशन) पर आधारित कर सकता है, जो उसे तात्त्विक भ्रम के वृत्त (सर्कल आफ मेटाफिज़िकल इल्यूज़न) का भेदन करने की कुंजी देता है। किन्तु यहाँ जिस बात पर बल देने की आवश्यकता है, वह यह कि वेदान्त में कोई भी ऐसी अवधारणा नहीं है, जो मानव में भेद या असमानता को आधार दे सकती हो, और दूसरी ओर प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त के पास ऐसा कोई तत्त्वमीमांसीय आधार नहीं है जिसपर समानता को एक अनिवार्य सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सके। समानता और असमानता के सिद्धान्तों का एक बड़ा स्रोत ईश्वर भी रहा है, किन्तु वेदान्त में ईश्वर माया के, जोकि वैश्व विषय है, वैश्व विषयी के रूप में ही स्वीकृत है और इस प्रकार उसकी सत्ता केवल प्रातिभासिक ही है, पारमार्थिक नहीं, और इसी कारण वह सर्जक भी नहीं है। इस प्रकार वेदान्त के अनुसार समाज-व्यवस्था या उसका कोई नियम ईश्वर के द्वारा बनाया हुआ, दूसरे शब्दों में पारमार्थिक, नहीं है। परिणामतः सब नियम और संस्थाएं केवल रूढ़ियाँ हैं। किन्तु रूढ़ियाँ या परम्पराएं मनमानी नहीं हो सकती, इनके लिए यह आवश्यक है कि ये नैतिक बोध के द्वारा सत्यापनीय हों।

वेदान्त के सम्बन्ध में यह भ्रान्त धारणा है, कि उसमें नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि पूर्ण ब्रह्म के सिवाय सब मिथ्या है, और ब्रह्म में नैतिकता का कोई अर्थ नहीं हो सकता। अवश्य वेदान्त के अनुसार केवल निरुपाधिक चिदानन्द ही सत् है, किन्तु जगत्—युष्मद्-अस्मद्-प्रत्ययों का अविवेक-आत्मा का अनात्मभाव-अथवा आत्मा का अपने-आप से दुराव—यह वस्तुस्थिति है। इस वस्तुस्थिति के तनाव में ही नीति की प्रतिष्ठा है।

किन्तु प्रश्न संख्या २ के पीछे एक दूसरा अभिप्राय था और वह यह कि, क्योंकि वेदान्त जगत् को माया मानता है, इसलिए वह सामाजिक और राजनीतिक वस्तुस्थिति का आकलन नहीं कर सकता। वास्तव में शंकर में, या वेदान्त के अन्य ग्रंथों में भी, 'माया' का वह अर्थ नहीं है जो लोक-साधारण में प्रसिद्ध है। वेदान्त में माया, और इस प्रकार इन्द्रियगोचर जगत्, का स्तर सत्ता मीमांसीय दृष्टि से उस से कहीं अधिक है, जितना प्लेटो में इसका है। वेदान्त में यह बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा कांट में सत् के विरुद्ध प्रतिभास का है। किन्तु वेदान्त और कांट में चिन्ता के विषयों में अन्तर होने से इनकी स्थापनाओं और मूल्य-दृष्टियों में बहुत अन्तर है। वेदान्त की चिन्ता जबकि सत्य और परमार्थ थी, कांट की चिन्ता वैज्ञानिक ज्ञान और नैतिकता थी, और ये क्षेत्र भी कांट में आधारतः पृथक्-पृथक् मिलते हैं। इसीलिए कांट में विषय और विज्ञान के क्षेत्र केवल प्रातिभासिक होने पर भी 'ज्ञान' के

रूप में सम्मानित हैं जबकि शंकर में इसी कारण ये अविद्या के रूप में देखे गये हैं। किन्तु अविद्या मूलतः मूल्यात्मक अवधारणा है, और इस अवधारणा के अनुसार ही माया, जोकि व्यावहारिक—प्रातिभासिक रूप से सत्य है, मूल्यात्मक दृष्टि से माया : अनात्म : है। अवश्य इस दृष्टि का संकेत काट में भी मिलता है, किन्तु उसमें यह दृष्टि उसकी तत्त्व-दृष्टि (मैटाफिज़िकल इन्साइट) के साथ समंजस नहीं है। कांट में संवेदमूलक क्षेत्र नैतिकता के सन्दर्भ में अनात्म और त्याज्य (डिस्वेल्यू) के रूप में रूपान्तरित हो जाता है। किन्तु इस रूपान्तरण में कोई तार्किक क्रम नहीं है। किन्तु इसकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे।[1] यहाँ हमारा प्रसंग यह देखना है कि शंकर में और कांट में समाज का सत्तामीमांसीय मूल्य क्या है, इसके सम्बन्ध में दोनों में यह अनुरूपता है, कि दोनों में समाज प्रातिभासिक रूप से सत् और पारमार्थिक रूप से असत् है, इनमें अन्तर यह है, कि कांट में व्यक्ति पारमार्थिक सत् और इस प्रकार समाज का अधिष्ठान (लोकस) वैयक्तिक चेतना ही हो सकती है, जबकि शंकर में व्यक्ति उपाधि है, और इसी प्रकार समाज को भी उपाधि के रूप में, और इस प्रकार स्वतन्त्र अधिष्ठान में, ।देखा जा सकता है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि कांट प्रतिभास का मूल वैयक्तिक मनस् को मानता है, और इस प्रकार उसके अनुसार वैयक्तिकता चैतन्य में मौलिक है, जबकि शंकर वैश्व मनस् (ईश्वर) को प्रतिभास का मूल मानता है। इसीलिए कांट में प्रतिभास व्यक्ति-विषयियों में सामान्य (इंटर-सब्जेक्टिव) क्षेत्र है, शंकर में यह व्यक्ति-मानस से स्वतन्त्र और उसका आधार है। दूसरे शब्दों में, शंकर में व्यक्ति, समाज, मानव-जाति और मानवता और इसी प्रकार गाय, गाय-जाति और गोत्व ये सब वैश्व प्रतिभास में पृथक्-पृथक् आयामों की उपाधियां हैं। कांट और शंकर के इस अन्तर से इस प्रसंग में क्या अन्तर पड़ता है, इसे हम दो उदाहरणों से स्पष्ट करेंगे : एक उदाहरण हम भाषा का ले सकते हैं : भाषा एक-साथ मानव व्यक्ति, मानव-समाजविशेष और मानव-सामान्य इन तीनों व्यवस्थाओं या आयामों को एक-साथ व्यक्त करती है। कांट में ये तीनों संस्थान विषयिमूलक वर्गणाओं (सब्जेक्टिव केटेगरीज़) के रूप में आकलित होते हैं, और शंकर में ये तीन संस्थान वैश्व प्रतिभास की तीन स्तरों की अहंकारोपाधियों के रूप में आंकलित होते हैं। दूसरा उदाहरण भौतिक विषय का दिया जा सकता है। भौतिक विषय मुझे इन्द्रिय-गोचर रूप में एक विशिष्ट दृष्टिकोण से प्रस्तुत होता है, किन्तु प्रत्ययात्मक स्तर पर असंख्य दृष्टिकोणों का एक केन्द्र होता है, जिसे विषय की परिप्रेक्ष्यात्मकता

---

१. यशदेव शल्यः-इम्मेनुअल कांटः तत्त्वमीमांसा, दार्शनिक त्रैमासिक, जनवरी-१९७७।

कहा जा सकता है, और जिसके अधिष्ठान के रूप में बर्कले ईश्वर की कल्पना करता है। इस प्रत्ययात्मक विषय के प्रत्ययन में यह अनिवार्यतः निहित है कि एक ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष मेरे दूसरे प्रत्यक्षों से और दूसरे वास्तव संभावित व्यक्तियों के प्रत्यक्ष से समर्थित होना चाहिए। अब, कांट के लिए यह विषय द्रष्टाओं के सामरस्य में प्रतिष्ठित हैऔर इस प्रकार रचनात्मक (कंस्ट्रक्शन) होगा, किन्तु शंकर में यह जातिगत या सामान्य-विषयिगत होगा जिसमें व्यक्ति-विषयी एक घटक के रूप में अवस्थित होता है। अब एक तीसरा देश भी है, जिसे भौतिक देश कह सकते हैं। कांट, आईस्टाइन, नव्य कांटीय वैज्ञानिक जैसे इडिंग्टन, जेम्स जींस ब्रिड़मैन[1/2] और तार्किक प्रत्यक्षवादी सब इस भौतिक देश को केवल एक स्तर और दूर हटी हुई रचना (कंस्ट्रक्शन) मानते हैं; बर्ट्रंड रसल ने अपनी पुस्तक 'ह्यूमन नोलेजः इट्स स्कोप एण्ड लिमिट्स' में इस देश को वास्तव भौतिक सत्ता का देश माना है और इसकी एक जटिल व्यवस्था देने का प्रयत्न किया है, जो विषय के तत्त्व (दैटनैस) को मनस् और ज्ञान से परे स्थापित करती है, जबकि कुछ प्रत्यक्षवादियों ने इस कठिनाई से बचने के लिए भौतिकवाद को ही स्वीकार कर लिया है, और मन तथा व्यक्ति को उसमें घटा दिया है। किन्तु भौतिकवाद की स्वीकृति में एक सत्तामीमांसा की स्वीकृति है, जो तार्किक प्रत्यक्षवाद की मूल प्रेरणा के ही विपरीत है, इसलिए उससे बचने के लिए उन्होंने इसे विधिपरक व्यवस्था (मैथोडोलोजीकल मूव) का नाम दे दिया है। जो भी हो, मैं यहाँ केवल एक

---

१. द्रष्टव्य (i) Eddington, A. —The Philosophy of Physical science (Combridge 1949)

(ii) Jamus Teans—Physics and Philosophy, (Combridge, 1948)

(iii) Bridgman, P. W.—Logic of Modern Physics (Macmillan 1927)

२. त्रष्टव्य—Carnap, R.—Methodological Character of scientific concepts; Minnesote studies in Philosophy of Science, Vol. I.

(ii) Quine—The Scope and Language of Science; British Journal for the Philosophy of Scicnce, Vol. 8, P. 1-17.

(iii) Fiegl, H.—The "Mental" and "Physical", Minnesote Studies in Philosophy of Science, Vol. II.

समस्या की ओर ध्यान आकर्षित कर रहा हूँ, जो अन्तरविषयिता (इंटरसब्जे-क्टिविटी) के सिद्धान्त से नहीं सुलझती और जिसे शंकर ने इस प्रकार कृत्रिम उपायों से सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया और तब न ही सत्तामीमांसीय अपचय का और न वैधिक अपचय का ही उपाय अपनाया। शंकर भौतिक विषयों की यह तृतीय स्तरीय सत्ता महाभूत के रूप में मानता है, जो वैश्व पदार्थ—माया—का इन्द्रियग्राह्य एक रूप है। शंकर में मन और भूत, अथवा विषयी और विषय अनिवार्यतः सह सम्बन्धित पदार्थ हैं और तात्त्विक के विपरीत प्रातिभासिक हैं। पाशव चेतना का विषय व्यष्टि-अहंकार की अव्यवहितता में संकुचित रहता है, जबकि मानवीय चेतना का विषय इस अव्यवहितता से प्रत्ययात्मक अतिक्रांतता में निर्मुक्त होकर अपने विषयी को वैयष्टिक अहंकार से सामाजिक सार्वभौमता (सोश्यल यूनीवर्सेलिटी) में निर्मुक्त करता है, और यह मुक्ति उस पूर्ण मुक्ति की ओर संकेत करती है, जिसमें वैयष्टिक ही नहीं मानुषिक उपाधि भी समर्पित हो जाती है। शंकर में इसी का नाम वैश्व माया है। यहाँ महत्वपूर्ण यह है, कि शंकर के सामाजिक मनुष्य में समाज और व्यक्ति दोनों सह-अवस्थित होते हैं और यह सहावस्थान एक ओर हेगल, मार्क्स, शिलर और मैन-हाइम के सामाजिक निर्धारणवाद (सोश्यल डिटर्मिनिज़्म) से बचाता है, और दूसरी ओर उस वस्तुस्थिति की समुचित व्याख्या देता है, जिसे सोरोकिन 'कोंजरी'[1] कहता है, और जिसके और भी गहनतर स्तरों की ओर मैंने ऊपर संकेत किया है।

---

१. Sorokin, P. Sociological Theories of today. (N. Y. Harper and Row, 1966).

९

तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा

तुलनात्मक अध्ययनों का आरम्भ सत्रहवीं-अट्ठारहवीं शताब्दियों में यूरोपीय यात्रियों के अन्य देशों के समाजों के सम्पर्क में आने के साथ हुआ। सभी तुलनाएं भिन्नों में किसी समानता के दर्शन से आरम्भ होती हैं, किन्तु सब प्रकार की समानताएं तुलना के लिए आधार नहीं होती। उदाहरणत: किसी गाय और मेज के रंग में समानता होने पर भी कोई गाय और मेज़ में तुलना केलिए प्रेरित नहीं होगा, किन्तु गाय में और चींटी में कोई प्रकट समानता नहीं होने पर भी कोई व्यक्ति इनमें तुलना केलिए प्रेरित हो सकता है। यहाँ तुलना की प्रेरणा किसी ऐसे मूल लक्षण या आकार के प्रतिभास (इन्ट्यूशन) से होगी, जो इन दोनों के बीच प्रकट भेदों के मूल में रह कर इनका धारण करता है। गोएथे ने अपने वनस्पति वैज्ञानिक अध्ययनों के क्रम में ऐसी एक मूल वानस्पतिक आकृति (आर्कीटाइप) का प्रातिभदर्शन किया और नोम चोम्स्की ने अपने भाषावैज्ञानिक अध्ययनों के क्रम में विभिन्न वास्तविक भाषाओं के विशिष्ट व्याकरणों के आधार में एक गुह्यमूल व्याकरण (डीप ग्रामर) का दर्शन किया। रुडोल्फ कार्नप के तार्किक भाषिक-संरचना (लाजिकल सिंटक्स) के सिद्धान्त का भी यही अभिनिवेश है। वास्तव में पतंजलि और भर्तृहरि का परावाक् का दर्शन भी इसी कोटि में रखा जा सकता है, यद्यपि इन विचारकों ने अपने इस प्रतिमान का पुनरीक्षण व्यक्त वाक् : वैखरी : के विविध रूपों की तुलना के माध्यम से नहीं किया, जैसा गोएथे ने वास्तव पौधों की आकृतियों में और चोम्स्की ने वास्तव भाषाओं के व्याकरणों में तुलना के माध्यम से किया। इस प्रकार भिन्न केवल आरोपित वर्गीकरणों के माध्यम से ही एकीकृत नहीं होते हैं; बल्कि ऐसा भी हो सकता है कि प्रकट भेद वास्तविक मूल पर प्रतिष्ठित हों। **वास्तव में किसी भी तुलना में यह पूर्वगृहीत रहता है कि तुलनीयों की किसी एक मूल में प्रतिष्ठा है। इसलिए तुलनात्मक दर्शन की सम्भावना पर विचार वास्तव में इस एक दार्शनिक मूल की सम्भावना पर विचार करना चाहिए।** दार्शनिक मूल,

अथवा कहें आधार-दर्शन का या यह सन्धान यद्यपि दर्शन की परिभाषा देकर भी हो सकता है, किन्तु ऐसा करना दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन की भावना के विपरीत होगा। तुलनात्मक दर्शन का कार्य विभिन्न दार्शनिक प्रयत्नों और स्थापनाओं में तुलना के माध्यम से उस आधारतत्त्व का सन्धान करना है जो इन प्रयत्नों की भिन्नता का धारण करता है।

यहाँ सबसे पहले विचारणीय प्रश्न यह होगा कि यह सन्धान अभिन्न आधार की पूर्वमान्यता के साथ आरम्भ होगा या कि बिना ऐसी पूर्व मान्यता के आरम्भ होगा ? जैसाकि हम अभी देखेंगे, इस प्रश्न के उत्तर के लिए जो विकल्प यहाँ दिया गया है, उसके किसी पक्ष को स्वीकार नहीं किया जा सकता; इसलिये यह प्रश्न ही युक्त नहीं है। जब हम भिन्नों में तुलना के लिए प्रवृत्त होते हैं, तब हम उनमें सामान्य आधार का न तो पूर्वमान्यता के रूप में आक्षेप करते हैं, और न किसी सामान्य आधार के नितान्त अभाव में ही आरम्भ करते हैं। वास्तव में सामान्य आधार : मूल प्रत्यय अथवा मूल संरचनाः का प्रातिभ अवगमन (इन्ट्यूटिव एप्रीहेंशन) में होता है, जिसे हम पीछे अध्यवसायात्मक ज्ञान का विषय बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह अनुव्यवसाय ही वास्तव में तुलनात्मक अध्ययन का कार्य होता है। संभव है कि कभी हम किसी मोह-जन्य विभ्रम को प्रातिभ साक्षात्कार समझ लें, जो पीछे अध्यवसायात्मक परीक्षा से भ्रम प्रमाणित हो जाय, किन्तु यह भी संभव है कि अध्यवसायात्मक प्रयत्न वास्तव प्रातिभ साक्षात्कार का आकलन करने में असमर्थ रह कर उसे भ्रम घोषित कर दे। जो भी हो, तुलनात्मक अध्ययन है केवल अनुव्यवसाय ही; न तो यह किसी पूर्वमान्यता के अनुमोदन का प्रयत्न होता है और न अनुसन्धान के लिए स्थापित प्राक्कल्पना (हाइपोथिसिस)। इस प्रकार नोम चोम्स्की और गोएथे के तुलनात्मक अध्ययन उनके प्रतिभात्मक साक्षाद्गम्य मूलव्याकरण और मूलाकृति (आर्कीटाइप) के अध्यवसायात्मक ज्ञान के विषय के रूप में पुनरवगमन के प्रयत्न कहे जा सकते हैं।

किन्तु जहाँ तक मैं जानता हूं, दर्शन में इस प्रकार का कोई तुलनात्मक अध्ययन नहीं हुआ है। दर्शन के कुछ विद्वानों ने भारत और पश्चिम के किन्हीं दो या अधिक दार्शनिकों की तुलनाएं अवश्य की हैं, किन्तु एक तो वे तुलनाएं केवल दो या तीन दार्शनिकों के बीच की गई हैं और दूसरे, वे भी उनकी व्यवस्था के कुछ अंगों में समानता दिखाने के रूप में हैं, उनकी प्रकट भिन्नताओं के मूल में अन्तर्हित अभिन्ता को दिखाने, अथवा संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) भिन्नता के बीच उपलक्षित अंगविशेष में अनुरूपता से संकेतित मौलिक अभिन्नता दिखाने के रूप में नहीं। उदाहरण के लिए, हेगल के निरपेक्ष प्रत्यय (एब्सोल्यूट आइडिया) और शंकर के ब्रह्म में, कांट के निरपेक्ष आदेश

(केटेगोरीकल इम्पेरेटिव) और गीता के निष्काम कर्म में तुलनाएं प्रथम प्रकार की ऊपरी तुलनाएं हैं। इनके विपरीत गोएथीय और चोम्स्की तुलनाओं में प्रकट समानताओं को लक्षित नहीं कर प्रकट असमानताओं के समान आधार की, और उस आधार पर से विभिन्नताओं के आविर्भाव के नियम की खोज लक्षित रहती है। वास्तव में गोएथीय और चोम्स्की समान आधार या आदिम संरचना (प्राइमल स्ट्रक्चर) किसी वास्तव आदिम जीव या वास्तव आदिम भाषा की संरचनाएं (स्ट्रक्चर्स) नहीं होकर उन प्रत्ययों (आइडियाज़) के समान है, जो कभी वास्तव हुए बिना इन उपाधियों का नियमन करते हैं। वास्तव में तुलना का यही प्रसंग हो सकता है। जो तुलनाएं शंकर और हेगल में की जाती हैं, वे इस प्रकार नहीं हैं और इसीसे युक्तिसंगत भी नहीं हैं। उदाहरण केलिए हेगलीय पूर्ण प्रत्यय वैयक्तिक आत्माओं या आत्मा से अभिन्न है, वह अध्यस्त भी नहीं है. इसलिए एक प्रकार से शंकर ब्रह्म और हेगलीय पूर्ण प्रत्यय में वैसी ही समानता है और जैसी संस्कृत के 'स्त्री' और अंग्रेजी के 'ट्री' शब्दों में। वास्तव में शंकर और हेगल में तुलनात्मक अध्ययन का युक्त प्रसंग इनमें प्रकट समानता के आधारों में निहित भेदों को देखना हो सकता है। इससे हम यह देख सकते हैं कि कैसे और क्यों प्रकट समानताएं वास्तव में भिन्न है, अथवा कैसे और क्यों वास्तव में भिन्न अवधारण (कांसेप्शंस) एक ही बिन्दु को लक्षित कर रहे हैं। यहाँ कहा जा सकता है कि यह दूसरी स्थिति संभव ही नहीं है, क्योंकि भिन्न अवधारण कभी एक ही बिन्दु को लक्षित कर ही नहीं सकते; यह समानता केवल प्रातीतिक, बल्कि आरोपित, ही हो सकती है, वास्तविक नहीं।

जो भी हो, इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन मूलगामी नहीं हो सकते, मूलगामी अध्ययन वही हो सकता है, जो विभिन्न दार्शनिक अभिनिवेशों को एक आधार से निस्सृत होते, अथवा कहें, विभिन्न प्रयत्नों को एक ही अभीप्सा की पूर्ति की ओर उद्दिष्ट देख सकता है। दर्शन में ऐसा एक आधार, ऐसा एक मूल अभिनिवेश, होना संभव है या नहीं. यहाँ हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे, क्योंकि यदि यह संभव नहीं है, तब तुलनात्मक दर्शन की कोई संभावना ही नहीं है।

किन्तु यह देखा कैसे जाय ? यदि वास्तविक दार्शनिक प्रयत्नों की परीक्षा से, तब यह निश्चय कैसे हो कि कौन सा प्रयत्न दार्शनिक है और कौन सा अदार्शनिक। यदि इसके लिए कसौटी पहले ही हो तो फिर वास्तविक प्रयत्नों को देखने की आवश्यकता ही कहाँ रहती है; किन्तु वास्तविक प्रयत्नों को देखे बिना कसोटी कहाँ से आयेगी ?

वास्तव में कसौटी संबंधी यह कठिनाई सभी वर्गीकरणों में न्यूनाधिक रहती

ही है; किन्तु यह देखना कठिन नहीं है कि **कसौटी का आधार वस्तु में गृहीत विशिष्ट लक्षण ही होता है।** किन्तु यह स्थिति जितनी सरल इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओं के संबन्ध में है उतनी मानवीय कृतियों के संबन्ध में नहीं, क्योंकि मानवीय कृतियों में वास्तव में कृति का प्रकट रूप उनके अन्तर्हित आधार से अलग नहीं पहचाना जा सकता। अमुक कृति काव्य है या नहीं, यह उनकी छन्दोमय रचना को देखकर नहीं कहा जा सकता, जिस लक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है वही उसकी अन्तर्हित संरचना और कसौटी भी है। यही बात दर्शन के लिए भी है। दार्शनिक और अदार्शनिक कृति में भेद की पहचान उस अन्तर्हित आकार (विशिष्ट रचना-तत्त्व) के आधार पर संभव है, जो उदाहरणभूत कृतियों की तुलना के माध्यम से अन्वेष्य है। यह बात इस सीमा तक वानस्पतिक आकार के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती, क्योंकि वनस्पति की प्रथम पहचान इस आकार की पहचान की अपेक्षा नहीं करती। अवश्य ध्वनियों में यह पहचानना अधिक सरल है कि इनमें कौनसी भाषा है और कौनसी नहीं; किन्तु वह भी इन दृष्टि से दर्शन या काव्य से मूलत: भिन्न नहीं है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संरचना के अन्वेषण की दृष्टि से दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन उतना प्रयोजनीय नहीं है, जितना इस दृष्टि से प्रयोजनीय है कि विभिन्न दार्शनिक प्रयत्न किसी सीमा तक अपनी मूल संरचना, अपने आदर्श की चेतना, से युक्त हैं।

किन्तु विचारकों का एक सम्प्रदाय है, जो तुलनात्मक अध्ययनों का औचित्य स्वीकार नहीं करता; इस मत के अनुसार न दो व्यक्तित्व तुलनीय होते हैं और न संस्कृतियाँ। ये दोनों नितान्त विलक्षण होते हैं, और दर्शन, काव्य आदि संस्कृति-मूलक होने से और भी अधिक विलक्षण होते हैं : दो व्यक्तियों के दर्शन व्यक्ति-मूलक लक्षणों में और दो संस्कृतियों के दर्शन संस्कृति-मूलक लक्षणों में परस्पर स्वतन्त्र होते हैं, इसलिए तुलना केवल आरोपित समानताओं के आधार पर ही हो सकती है। इसी प्रकार भाषा के लिए भी कहा जा सकता है; इनके अनुसार भाषा एक गत्यात्मक वर्तुल संस्थान होती है, जिसकी गति वृत्त के सभी बिन्दुओं को अन्य बिंदुओं के साथ संयुक्त रखती है और अन्य भाषाओं के वृत्त के बिन्दुओं का प्रवेश इस वृत्त में नहीं होने देती। वास्तव में भारतीय वैयाकरणों का स्फोट-सिद्धान्त भी बहुत कुछ इस सिद्धांत का समर्थन ही करेगा, क्योंकि इनके अनुसार अर्थ का वाहक संपूर्ण वाक्य होता है, विशिष्ट शब्द मिल कर उनका निर्माण नहीं करते। ऐसी अवस्था में एक ही भाषा में भी समानार्थकता संभव नहीं है, दो भाषाओं में समानार्थकता की सम्भावना का तो प्रश्न ही कहाँ रह जाता है। एक प्रकार से कहा जा सकता कि इन वैयाकरणों से एक कदम आगे भाषा को वर्तुल-संस्थान मानने वाले हैं,

जो वाक्य-स्फोट के बजाय भाषा-स्फोट को मानते हैं; अर्थात् इनके अनुसार संपूर्ण भाषा एक ही अर्थ-स्फोट है और उसके सब वाक्य और शब्द उसमें से विश्लिष्ट किये जाते हैं। इसलिये वाक्य और शब्द उस मूल स्फोट के प्रतिभान (इन्ट्युशन) के बिना ग्राह्य नहीं हो सकते। यहाँ विट्गिंस्टाइन के इस प्रसिद्ध कथन का भी स्मरण किया जा सकता है कि "भाषा एक जीवन-विधि है", जो वास्तव में स्पेंग्लर के संस्कृति-विषयक व्यापकतर सिद्धांत का एक अंश में कथन है। इसके विपरीत पीछे हम आधार-व्याकरण-सिद्धांत की चर्चा कर आये हैं, जो सब भाषाओं का एक ही उत्स देखने का प्रयत्न करता है।

किन्तु वास्तव में इन दो मतों में मौलिक विरोध नहीं है; सब भाषाएं एक ही वाक्-तत्त्व की विभिन्न उपाधियाँ अथवा कहें, एक ही व्याकरण के विभिन्न विकार, हो सकती हैं और इनके ये भेद आधारभूत अभेद पर प्रतिष्ठित होकर भी अपने गठन में परस्पर पूर्णतः विलग हो सकते हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न संस्कृतियाँ एक और पूर्णतः स्वतन्त्र सामाजिक व्यक्तित्व हैं, किन्तु दूसरी ओर उस मूल अभेद में प्रतिष्ठित हैं जो विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्नतया रचित होता है ! भारतीय और चीनी संस्कृतियाँ इस अर्थ में परस्पर पूर्णतः भिन्न हैं कि उनमें जीवन, जगत् और परमार्थ सर्वथा भिन्न-भिन्न रूप में कल्पित हैं, किन्तु इस अर्थ में अभिन्न आधार में स्थित हैं कि इन दोनों में जीवन, जगत् और परमार्थ की एक समंजस कल्पना की अभीप्सा विद्यमान है। अभीप्सा की इस समानता के कारण ही ये दोनों संस्कृतियाँ हैं। यहाँ कोई लाइनीज़ का उल्लेख करते हुए कह सकते हैं कि विभिन्न व्यष्टियों के लिए किसी समान आधार का होना आवश्यक नहीं है। यहाँ हम लाइब्नीज के द्वारा दृष्टि-बिन्दुओं को ही परमता देने के औचित्य सम्बन्धी विवाद में नहीं पड़ना चाहते, यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि कोई भी भावन या अवगमन भावरूप में अभाव से परिसीमित होता है। व्यक्ति रूप में मैं अन्य व्यक्ति के सामने आते ही अपने अभाव से परिवेष्टित हो जाता हूँ। लाइब्नीज़ के चिद्बिन्दु न अपने को देश-काल में देखते हैं और न अन्य चिद्बिन्दुओं को चिद्बिन्दु रूप में देखते हैं; किन्तु ऐसा संसारावतरित चैतन्य के लिए संभव नहीं है। वह निरुपाधिक की औपाधिक अभिव्यक्ति के रूप में ही अवतरित होता है, और उसे इस बात का अस्फुट संज्ञान अथवा स्फुट बोध भी रहता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक संस्कृति, और तदनुसार इनकी सब कृतियाँ, एक ओर सर्वथा विलक्षण होती हैं, किन्तु दूसरी ओर ये एक ही मूल प्रत्यय अथवा मूल उपाधि में एक समान होती हैं। उदाहरण के लिए सांख्य के अनुसार बुद्धि, अहंकार, अन्तःकरण, तन्मात्र और पंच-महाभूत यह वैयक्तिक अस्तित्व की

सामान्य संरचना अथवा सामान्य रचनात्मक प्रत्यय है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति अहंकार के अधीन विलक्षण है। यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है, कि वैयक्तिक विलक्षणता के आधार में निहित यह संरचना उस प्रकार तुलनात्मक अध्ययनों के निष्कर्ष रूप में प्राप्त नहीं है जिस प्रकार गोएथे को वानस्पतिक मूल संरचना वानस्पतिक अध्ययनों में प्राप्त हुई थी। यद्यपि गोएथीय निष्कर्ष भी आगमनात्मक (इंडक्टिव) नहीं होकर प्रातिभ ही था, जैसाकि हम पीछे देख आये हैं; किन्तु सांख्यिकीय आधार संरचना प्रातिभ नहीं होकर सैद्धांतिक है। आधारों की उपलब्धि में यह अन्तर इन आधार-संरचनाओं के इन पर आधृत विशिष्टों के साथ सम्बन्ध में अन्तर का भी द्योतक है। जब कि प्रथम प्रकार के विशिष्ट अपने आधार-प्रत्यय के उदाहरण ही नहीं है; बल्कि ये प्रत्यय विशिष्टों के अपने वैशिष्टय में चरितार्थ होने के प्रयत्न-रूप हैं। इनमें प्रथम प्रकार के एक दूसरे उदाहरण के रूप में किसी भाषा में वाक्य-रचना के नियमों और वास्तव वाक्यों को देखा जा सकता है। इनमें प्रथम प्रकार के आधार-प्रत्यय प्लेटोयी है, और दूसरे प्रकार के अरस्तुई (अरस्तू के फोर्म्स) हैं। दूसरे शब्दों में, प्रथम प्रकार के आधार-प्रत्यय अखंड और अलौकिक स्वरूप-सत् के उदाहरण हैं, और लौकिक माध्यम में अलौकिक के लिए संकेत रूप हैं। और दूसरे प्रकार के उदाहरण प्रत्यय के साथ तारतम्य-रूप।

× × ×

क्या दर्शन में भी इसी प्रकार कृतियों, : प्रतिपादित सिद्धांतों: के आधार में कोई एक मूल संरचना रहती है, और यदि रहती है, तो उनमें सम्बन्ध किस प्रकार का होता है? इसके उत्तर के लिए वास्तविक दार्शनिक परिस्थिति के निरीक्षण के साथ आरम्भ करना उपयुक्त होगा। प्रस्तुत प्रसंग में यह परिस्थिति तीन पक्षों में प्रस्तुत होती है—(१) सर्वप्रथम, दर्शन का क्षेत्र क्रमशः संकुचित हुआ है, अर्थात् विचार के कुछ ऐसे रूप, जो पहले समरूप देखे जा रहे थे, पीछे क्रमशः विज्ञान, कला, धर्म, नीति—व्यवस्था आदि के रूप में दर्शन से अलग पहचाने जाने लगे और इस प्रकार दर्शन का अपना तत्त्व, अपना मूल आधार, अधिक शुद्ध रूप में प्रकट हुआ। तुलनात्मक दर्शन का यह पक्ष विमर्शात्मक चेतना की विभिन्न विधाओं (मोडूज) में तुलना के मार्ग से दार्शनिक विधा की मूल संरचना को प्रकट करता है। उदाहरण के लिए, मन विषयक विचार में वैज्ञानिक विधा और दार्शनिक विधा को पृथक् पृथक् पहचानना। यहाँ हम इस पक्ष पर विचार नहीं करेंगे। दूसरे, दो विभिन्न संस्कृतियों में एक-दूसरी से बहुत भिन्न प्रकार कि अभीप्साएँ (मूल्य-दृष्टियाँ) दृष्टिगत होती हैं। उदाहरण केलिए, आधुनिक पश्चिम में विज्ञान और व्यक्तिमूलक जीवन

की धुरी पर सामाजिक व्यवस्था का संयोजन, ये मुख्य अभीप्साएँ हैं। इसके विपरीत सुकरात और प्लेटो प्लोटाइनस में बुद्धिग्राह्य आध्यात्मिक तत्त्व के साक्षात्कार की अभीप्सा दिखाई देती है और प्राचीन भारत में हम संपूर्ण लौकिक ज्ञान को औपाधिक मानकर निरूपाधिक ज्ञान की उपलब्धि के लिए उपाधियों के अतिक्रमण की विधि के ज्ञान को और अतिक्रमण की सिद्धि को अभीप्सित देखते हैं। इन अभीप्साओं के अनुसार ये तीन भिन्न-भिन्न प्रकार के दर्शन हैं। इनमें आधुनिक मनस् ग्रीक मनस् को न्यूनाधिक समझ सकता है और इसी प्रकार प्राचीन भारतीय मनस् भी ग्रीक मनस् को अंशतः समझ सकता है, जबकि आधुनिक पाश्चात्य मनस् और प्राचीन भारतीय मनस् में परस्पर संवाद बहुत कठिन है। वैसे भारत में न्याय, वैशेषिक और मीमांसा दर्शन भी थे जो आधुनिक पाश्चात्य मनस् के बहुत कुछ निकट कहे जा सकते हैं; किन्तु सांस्कृतिक भूमियों पर यह निकटता केवल ऊपरी है, वास्तविक नहीं। यहाँ ग्रीक दर्शन पर बर्ट्रंड रसल की एक टिप्पणी का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। उसके अनुसार "ग्रीक-परंपरा की मूल अभिप्रेरणा ग्रीक दार्शनिकों का तर्क बुद्धि (रीजनिंग) की सर्वशक्तिमत्ता में बाल-सुलभ विश्वास था। उन दार्शनिकों को ज्यामिति की खोज ने उन्मत्त कर दिया था, जिसकी प्रागनुभविक निगमनात्मक विधि को उन्होंने सर्वत्र प्रयोग की जा सकने वाली विधि मान लिया था।"[1] किन्तु ग्रीक दार्शनिकों के लिए तर्क का अर्थ उससे सर्वथा भिन्न था, जो रसल और आधुनिक यूरोपीय मनस् के लिए इसकी अवधारणा है, यह रसल देख ही नहीं रहा है। ग्रीस के लिए वास्तव में वह बाह्य जगत् की अन्तरात्मा भूत दिव्य व्यवस्था का और मनुष्य में इसका साक्षात्कार करने वाली आत्मा और विवेक करने वाली बुद्धि का वाचक था, निगमनात्मक तर्क का नहीं। उस दृष्टि-बिन्दु पर हम आधुनिक जन कुछ सीमा तक सह-अनुभूति से अवस्थित हो सकते हैं, और उनको दृश्यमान् लोक का कुछ आभास प्राप्त कर सकते। तुलनात्मक दार्शनिक परिस्थिति का तीसरा पक्ष है, एक ही संस्कृति के अन्तर्गत विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में तुलना के मार्ग से उनकी मूल संरचना और मूल अभिनिवेश को खोजना।

इनमें दूसरे प्रकार की तुलना हमारे देश में पर्याप्त हुई है; किन्तु उसमें उद्देश्य या तो भारतीय दार्शनिकों में कुछ ऐसे विचारों की खोज करना होता था जैसे पश्चिम के किसी दार्शनिक में मिलते हों, अथवा पश्चिम के किसी दार्शनिक में ऐसे तत्त्वों

---

1. B. Russell-Our Knowledge of the External World, P. 15; George Allen and Unvin, London. 1914.

की खोज करना होता था जैसे किसी भारतीय दार्शनिक में मिलते हों; किन्तु यह प्रयत्न बहुत भ्रान्त था, क्योंकि इस प्रयोजन से चुने गए विचार एक सजीव अवयवी में से पृथक् कर केवल ऊपरी दृष्टि से ही देखे जाते थे और इस प्रकार सांस्कृतिक मनस् की विलक्षणता को प्रकट नहीं करते थे। तुलनात्मक दर्शन का कार्य इस प्रकार अवयवी को छोड़ कर अवयव विशेष की तुलना करना नहीं है, बल्कि उस मूल लक्षण का प्रतिभान पाना है, जो अपने को विभिन्न विलक्षणताओं में प्रकट करता है। इस प्रकार तुलनात्मक दर्शन का कार्य वास्तव में मूल और लक्षण दोनों को देखना होता है। उदाहरणों के लिए वसुबन्धु और बर्कले में एक समानता है, कि दोनों बाह्यार्थ को असत् मानते हैं, किन्तु इनमें बाह्यार्थ के स्वरूप, विज्ञप्ति के स्वरूप और बाह्यार्थ को असत् मानने के प्रयोजन को लेकर ऐसे असाधारण भेद हैं, कि इनमें बाह्यार्थ के निषेध के रूप में परिलक्षित समानता एक ही परत गहरी दृष्टि में ऊपर दिखायी देने लगती हैं और यह (समानता) इसके नीचे छिपे वास्तविक भेदों की दृष्टि से रोचक हो जाती है। इसका अर्थ यह नहीं है, कि "एस्से एस्ट पर्सिपाई" और "विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदर्थाविभासनात्" में कोई समानता है, ही नहीं, वस्तुतः इनमें बहुत महत्त्वपूर्ण समानता है यह समानता तार्किक संरचनागत है; किन्तु उतने ही मौलिक भेद भी हैं जो दार्शनिक अभीप्सा-मूलक हैं और इस केन्द्र से तार्किक-दार्शनिक संरचन को भी प्रभावित करते हैं। तार्किक संरचनागत समानता इस प्रश्नात्मक दृष्टि और उसके प्रस्तुत विषय-क्षेत्र में है कि "ज्ञान के प्रस्तुत विषय में ज्ञान के अपने तत्त्व के अतिरिक्त तत्त्व क्या है ?" उदाहरणतः 'भूतल पर घट'.इस विषय के ऐन्द्रिक पक्ष में रूप (वर्ण, काठिन्य, और दैशिक संस्थान आदि) के अतिरिक्त विषय का विनिश्चय या अध्यवसाय तथा दर्शक से उसकी स्वतंत्रता का भाव, ये परिलक्षित होते हैं। इनमें प्रथम दो : रूप और विनिश्चयः दर्शक पर ही निर्भर हैं, और तीसरा : दर्शक से स्वतंत्रता का भाव : विषय की पृथक् सत्ता का संकेतक है। अब इस तीसरे पक्ष को लेकर अनेक उत्तर हैं, जिसमें से एक वसुबन्धु और बर्कले द्वारा एक-समान दिया गया है; किन्तु पहले दो पक्षों को लेकर भी समानता और भिन्नता हो सकती है, उदाहरणतः अध्यवसेय की सत्ता और असत्ता तथा अध्यवसाय की अर्थप्रापकता और अप्रापकता को लेकर; प्रथम को लेकर भी मतभेद हो सकते हैं, विज्ञिप्ति और विज्ञापित के सम्बन्ध को लेकर। बर्कले और वसुबन्धु में दूसरे पक्ष को : अध्यवसाय लेकर : प्रायः पूर्ण समानता है, कि अध्यवसाय उपचारात्मक है, तीसरे पक्ष को लेकर पूर्ण समानता है, कि विज्ञप्ति से पृथक् विज्ञापित की कोई सत्ता नहीं है; किन्तु प्रथमः विज्ञप्ति और उसके अंतर्गत विज्ञापित रूप-धातु चेतना-क्रिया और उसकी अन्तर्वस्तु को लेकर दोनों में आधारभूत मत-भेद है, जो शेष दो पक्षों से सम्बन्ध में भी उनकी दृष्टि को प्रभावित करता है। बर्कले विज्ञप्ति

और विज्ञापित क्रिया और अन्तर्वस्तु के भेद की ओर कोई ध्यान नहीं देता और आँख मूंद लेने तथा हाथ हटा लेने में ही घट की अशेषता मान लेता है। माइनोंग और हुस्सर्ल क्रिया और अन्तर्वस्तु में भेद करते हैं, और क्रिया को अन्तर्वस्तु की ओर उन्मुख देखते हैं; किन्तु वे इन दोनों पक्षों को ही विज्ञान (विज्ञप्ति) मानते हैं, किन्तु वसुबन्धु क्रिया और अन्तर्वस्तु में भेद तथा क्रिया को अन्तर्वस्तुसन्मुख देखने के अतिरिक्त इन दोनों को विज्ञान के बाहर, (बाह्यार्थ के रूप में) देखता है, और इस प्रकार इन्हें विज्ञान पर उपचार मानता है। इसी से बर्कले जबकि बाह्य विषयों को ईश्वर की विज्ञप्तियों की वस्तु के रूप में सत् मानता है, और हुस्सर्ल विषयापेक्षी चेतना के अपेक्षा-पूरकों के रूप में सत् मानता है, और इन्हें ही विज्ञान मानता है, वसुबन्धु अपने अनुभवों तक को बाह्यार्थ और अतएव असत् मानता है। इस प्रकार वसुबन्धु के अनुसार मूल विज्ञान रूप धातु, अरूप धातु और कामधातु इन तीन विधाओं में प्रवृत्त होता है, और तीनों विधाएँ बाह्यार्थ-कल्पनाओं को जन्म देती हैं, और वर्ण, संस्थान तथा तथा भौतिकत्व तीनों एक समान बाह्यार्थ कल्पनाएँ हैं, तथा इन कल्पना-विषयों के समान ही कल्पना-प्रवृत्ति भी बाह्यार्थ है। इस प्रकार बर्कले बाह्यार्थ के निषेध की दृष्टि के तर्क के अन्त तक नहीं पहुँचता, जब कि वसुबन्धु पहुँचता है।

किन्तु वसुबन्धु इतना मूलगामी तार्किक दृष्टि के अधिक पैनेपन के कारण उतना नहीं है, जितना विषयज्ञान के प्रश्न को उस समग्र बोध के अन्तर्गत देखने के कारण है, जो सत्ता और मूल्य के परमार्थ की थाह लेने की अभीप्सा से प्रेरित है। किन्तु इतना मात्र कहना भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि जिन पश्चिमी दार्शनिकों ने इस समग्रता के केन्द्र में अपने को प्रतिष्ठित किया भी उन्होने भी वसुबन्धु के समान बाह्यार्थ का निषेध नहीं किया। उदाहरण के लिए हेगल को लिया जा सकता है; जो केवल चैतन्य की ही सत्ता मान सकता है और प्रकृति तथा मूल्य के परमार्थत्व का एक-अखंड परमार्थ तत्त्व में सन्धान करता है। किन्तु वह बाह्यार्थ का उस आधारभूत रूप से निषेध नहीं करता जिस प्रकार वसुबन्धु करता है। इसका कारण मूल सांस्कृतिक अभीप्साओं में अन्तर है; भारतीय संस्कृति में मूल्य व्यक्ति-जीवन के परमार्थ से तादात्मक में देखा गया है, व्यक्ति-जीवन को औपाधिक और अपरमार्थ तथा परमार्थ को निरुपाधिक रूप में देखा गया है, और क्योंकि मूल्य की स्थिति साध्यता में है, इसलिए दर्शन का कार्य साध्य, साधन और साध्योन्मुख या साधक के स्वरूप को समझना माना गया है। यह स्थिति पश्चिम में नहीं है, विशेषता आधुनिक पश्चिम में; ग्रीस में यह बहुत सीमा तक थी; किन्तु ग्रीस में परमार्थ ही बुद्धि-रूप था। मानवात्मा के रूप में बुद्धि और वस्तु सत् के रूप में बुद्धि ग्राह्य धर्म; प्राचीन यूरोप अथवा कहें ईसाई यूरोप में

व्यक्ति और ईश्वर दोनों ही परमार्थ सत् थे। इसलिए कोई पश्चिमी दार्शनिक वसुबन्धु के समान बाह्यार्थ का निषेध करने में इस सीमा तक नहीं जा सकता था कि वह ग्राह्य-ग्राहक-भाव को ही बाह्यार्थ मान लेता, और न उनमें कोई वसुबन्धु के समान विज्ञान से बाह्यार्थ के निवारण को परम साध्य रूप में ही प्रस्थापित कर सकता था।

वसुबन्धु और बर्कले के समान दिङ्नाग और कांट में भी समानता और भेद हैं, जो तार्किक संरचनागत और अभीप्सागत हैं। दिङ्नाग और कांट दोनों अध्यवसाय को विकल्पमूलक आरोप और निर्विकल्पक विज्ञप्ति को निर्विकल्पक सत् के साथ अव्यवहित सम्बन्ध में देखते हैं; किन्तु कांट अव्यवहितत्त्व को साध्य के रूप में नहीं देखता और इस प्रकार विकल्पों को निरास्य के रूप में भी नहीं देखता; बल्कि जिस संवेदना को वह निर्विकल्पक रूप में विलक्षण सत् के साथ अव्यवहित सम्बन्ध में देखता है, उसी को नैतिक कर्म के संदर्भ में सत् की सिद्धि में बाधक रूप में भी देखता है। वास्तव में संवेदना के ये दो विरुद्ध रूप कांट में ज्ञेय और साध्य को परस्पर नितांत असम्बद्ध क्षेत्रों के रूप में देखने के कारण हैं। ये दो विरुद्ध रूप उसमें विकल्प के भी हैं, जो त्रिकल्प ज्ञान-विधा में निर्विकल्पक आत्मा को विषय : प्रकृति : रूप में ग्रहण करता है, वही साधनात्मक विधा में उस नियम (मॉरल लॉ) का साक्षात्कार करता है, जो साधक के लिए साध्य का प्रापक होता है।

इस महान् दार्शनिक में जो यह असामंजस्य है, उसका कारण उसकी संरचनात्मक दृष्टि का उसकी अभीप्सात्मक दृष्टि की तुलना में कहीं अधिक व्यापकतर और गहनतर होना है। उसकी अभीप्सा-दृष्टि आधुनिक विज्ञान और ईसाई चिन्तन में उभयतः मूलित है, और संरचनात्मक दृष्टि ग्रीक ईसाई और डेकर्टीय इन तीन में। ईसाई-दर्शन के अनुसार मनुष्य ईश्वर के राज्य में एक व्यक्ति है, जिसकी वैयक्तिक सत्ता अक्षुण्ण, किन्तु स्वरूपतः अपूर्ण है; दूसरी ओर उसके पिता के रूप में ईश्वर है, और तीसरी ओर यह जगत् है, जो ईश्वर-कृत होने पर भी सत् है; किन्तु कांट की दार्शनिक दृष्टि ने कुछ और देखा, जिसके अनुसार जगत् सत् नहीं होकर विकल्पमूलक प्रतिभास है। सत् विलक्षण और विकल्प के लिए अग्राह्य है। देह इन्द्रिय और बुद्धि की उपाधियों के निवारण से ही चित्-सत्, जो कि मनुष्य का परमार्थ स्वरूप है, साध्य है। यह दृष्टि विषय-ज्ञान और मूल्यान्वेषण की तार्किक संरचना के अवगाहन से उत्पन्न हुई थी; किन्तु इसका सामंजस्य उसकी अभीप्सा-दृष्टि से, जो भौतिक विज्ञान और ईसाई नैतिक बोध में मूलित थी, नहीं हो सकता था। इसीसे विकल्प

उसके अनुसार निर्विकल्पक पर आरूढ़ होकर यथार्थ जगत् का ग्राहक बनता है। व्यक्ति अपनी उपाधि के साथ ही अक्षुण्ण हो जाता है, और बुद्धि-ग्राह्य, वास्तव में कहना चाहिए बुद्धि-मूलक, नैतिक नियम निरूपाधिक सत् का स्थान प्राप्त कर लेता है। ये तीनों निष्कर्ष अभीप्सामूलक हैं और उसकी संरचनात्मक दृष्टि से समर्थित नहीं होते।[1] कांट की समग्र दार्शनिक दृष्टि में विषय-जगत् का वह महत्त्व नहीं है, जो उसके दार्शनिक लेखन में उसे मिला है। न उसमें तत्त्वमीमांसा का निषेध ही समंजस है; यद्यपि यह निषेध उसमें उतना वास्तविक है भी नहीं, जितना प्रकट है; किन्तु वह इस प्रकट को इतना महत्व देता है कि वह वास्तविक ही प्रतीत होने लगता है। यह असामंजस्य दिङ्नाग में नहीं मिलता, क्योंकि उसकी दार्शनिक संरचना और दार्शनिक अभीप्सा में कांट के दर्शन की सी विसंगति या असामंजस्य नहीं है। सत् उसके लिए विलक्षण, अथवा कहें निरुपाधिक, है; विज्ञानवादियों के समान वह सत् को उसकी विज्ञप्ति में अन्तर्भूत नहीं करता। यह विलक्षण सत् निरुपाधिक ज्ञान के लिए ही साक्षात्कार्य हो सकता है। विकल्प खण्ड-ग्राही और द्वन्द्वात्मक है, परिणामतः औपाधिक है, इसलिए वह सत् का प्रापक नहीं हो सकता और परिणामतः वह निरास्य (निवारणीय) है; क्योंकि यदि सत् का ज्ञान या सिद्धि ही मूल्य नहीं है, तो और मूल्य क्या हो सकता है? और यदि ज्ञान और सत् दोनों विलक्षण हैं, तब आत्मा ईश्वर ब्रह्म आदि सब औपचारिक हैं। ऐसे में व्यक्तित्व नैतिक नियम आदि के लिए तो स्थान ही कहाँ रह जाता है? सो, दिङ्नाग की दार्शनिक दृष्टि और दार्शनिक अभीप्सा में पूर्ण सामंजस्य दिखायी देता है। वह निर्ममता से सत् को अनभिलाप्य और सब अभिलाप्य को असत् घोषित कर देता है और इस दार्शनिक संरचना-मूलक दृष्टि के अनुरूप निर्वाण (वैयक्तिकता की सब उपाधियों के निर्वापन) को दार्शनिक अभीप्सा बनाता है। कांट में सत् पूर्णतः निरुपाधिक (स्वलक्षण तत्त्वमात्र) स्वीकृत होने पर भी व्यक्तित्वोपाधि पारमार्थिक सत् के रूप में स्वीकृत है, जैसाकि हम पीछे देख आये हैं।

यहाँ हमने दो तुलनाओं के क्रम में दो दार्शनिक संरचनाओं में कुछ आधारभूत समानताएँ, किन्तु दार्शनिक अभीप्साओं में आधारभूत भेद देखे। इन भेदों के कारण ये संरचनाएँ कितने भिन्न व्यक्तित्व ग्रहण करती हैं, यह वसुबन्ध और बर्कले के दार्शनिक कृतित्व को देख कर सहज ही अनुभव किया जा सकता है।

---

१. द्रष्टव्यः यशदेव शल्य—इम्मेनुअल कांट; पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, खंड २ (सं० डा० दयाकृष्ण) में संकलित। प्रका. राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, १९८१।

यहाँ हम एक और उदाहरण के रूप में डेकार्टीय द्वैतवाद तथा सांख्यीय द्वैत-वाद को और प्रकृति-विषयक शांकर तथा कांटीय दृष्टियों को देखेंगे।

डेकार्ट चैतन्य को स्वप्रकाशक (सैल्फ कांश्यसनैस) रूप में देखता है। जबकि सांख्य प्रकाश रूप में। सांख्य के लिए चैतन्य का स्वप्रकाशन औपाधिक है और यह उपाधि, अन्य किसी भी उपाधि के समान, प्रकृति-मूलक है। शंकर के लिए भी चैतन्य प्रकाशात्मक ही है और स्वप्रकाशकता उसके अनुसार भी औपाधिक है; किन्तु उसमें सांख्य से भिन्न चैतन्य (ब्रह्म) इस तथा अन्य सब उपाधियों को अपने संकल्प से क्रियान्वित करता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि शांकर संकल्प-शक्ति शैव संकल्प-शक्ति के समान वास्तव नहीं हैं, किन्तु यहाँ यह अंतर उपेक्षणीय है। यहाँ शंकर की डेकार्ट से एक अत्यन्त क्षीण समानता, किन्तु महत्त्वपूर्ण भेद देखा जा सकता है। डेकार्ट के समान ही शंकर में चैतन्य की स्वप्रकाशकता आत्मप्रत्यय के रूप में आत्म-क्रियान्विति है; किन्तु इस समानता के नीचे इनमें सब आधारभूत संरचनात्मक असमानताएँ हैं। जैसे डेकार्ट के लिए स्वप्रकाशन प्रत्यङ्मुख व्यापार है, जबकि शंकर के लिए यह बहिरुन्मुख व्यापार है। यहाँ शंकर की सांख्य से यह अनुरूपता है कि दोनों में यह समान रूप से अविद्यामूलक उपाधि है; किन्तु सांख्य और शंकर में अन्तर यह है कि सांख्य के लिए उपाधि स्वतंत्र-सत्तामूलक है, जबकि शंकर में यह चैतन्यमूलक ही है। इस प्रकार इन दो भारतीय दर्शनों में संरचनात्मक भेद मौलिक नहीं है, केवल ऊपरी : दोनों में स्वप्रकाशन बहिरुन्मुख व्यापार के रूप में कल्पित होने से : है जब कि इन दो में और डेकार्ट में मौलिक अन्तर है, क्योंकि डेकार्ट में यह व्यापार ही प्रत्यङ्मुख रूप में कल्पित है। दूसरा अन्तर यह है कि डेकार्ट के लिए यह अहं-बोध मौलिक है, जबकि सांख्य के लिए यह उपाधि अवगुंठन अवरोध अहंकारावरण है। वास्तव में डेकार्ट में, या पश्चिमी दर्शन मात्र में, इस उपाधि की अवधारणा ही नहीं है, जबकि सांख्य और वेदांत के लिए यह अवधारणा मौलिक है। अवश्य डेकार्ट ईश्वर-चैतन्य को भी मानता है, किन्तु वास्तव में वह भी निरुपाधिक नहीं है, और दूसरे, उसमें व्यक्ति-चैतन्य भी स्वतंत्र तत्त्व है।

डेकार्ट के लिए चैतन्य का स्वरूप, ग्रीक दार्शनिकों के समान ही, बुद्धि है। यह चैतन्य सत् है, किन्तु निर्विकार रूप में नहीं, बल्कि विकार रूप में : 'सन्देह करता हूँ' के अव्यवहितत्व के रूप में; किन्तु यह विकार : (विचार) सत्य होने के लिए अन्य सत् का अपेक्षी है; जिसका अर्थ है कि चैतन्य भाव (बींग[1]) तो है। किन्तु सत्

---

१. कोई कह सकता है कि डेकार्टीय चैतन्य 'भाव' नहीं होकर 'क्रिया' है : विचार-क्रिया किन्तु यह द्रष्टव्य है कि विषय सापेक्षता में यह क्रिया-रूप नहीं है, ज्ञान-रूप वस्तु ही है।

(रियालिटी) नहीं है। वह सत् प्रकृति है, जो इसे सत्यापित करती है; किन्तु यहाँ हम इस प्रसंग में नहीं जायेंगे। यहाँ द्रष्टव्य है कि डेकार्ट के लिए प्रकृति उस विचार के सत्य का आलम्बन है, जिसकी अन्तर्वस्तु विस्तार-प्रत्यय (आइडिया आफ एक्स्टेंशन) है, जबकि सांख्य के लिए विचार, विचार का अव्यवहितत्व, विचार की अन्तर्वस्तु और उसके सत्य की आलम्बनभूत वस्तु सब प्रकृति है। इसीसे सांख्य पराबुद्धि, अहंकार अहंकारावृत बुद्धि, अन्तःकरण, इन्द्रिय, तन्मात्र और महाभूत, सबको प्रकृति मानता है। यह द्रष्टव्य है कि यहाँ महाभूत भी भौतिक द्रव्य नहीं है, बल्कि आत्मोपाधि विशेष का परिणाम है, परिणामी वही प्रकृति है, जो बुद्धि आदि का भी उपादान है, जबकि चैतन्य नित्य अपरिणामी है।

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, इन दो दार्शनिक दृष्टियों में मौलिक भेद है। यह भेद संरचना और अभीप्सा दोनों में है। संरचनात्मक प्रसंग में दोनों समान रूप से ज्ञाता और विषय को एक-दूसरे में अन्तर्भाव्य नहीं मानते; किन्तु डेकार्ट से भिन्न सांख्य ज्ञान के लिए क्रिया और प्रयत्न को विषय पक्ष में मानता है, परिणामतः ज्ञान को भी विषय के अन्तर्गत ही रखता है, जबकि डेकार्ड ज्ञान के क्रिया और प्रयत्न को ज्ञान में रखता है और परिणामतः ज्ञान को ज्ञाता में मानता हैं। अभीप्सा के प्रसंग में, दोनों में मनुष्य का स्वरूप अनुसंधेय है। सांख्य इसका यह स्वरूप मूल्यान्वेषण के परम अन्वेष्य (मोक्ष) में देखता है और उसके प्राप्त रूप को विपर्यास मानता है। डेकार्ट उसका स्वरूप लोक के ज्ञान और परलोक के संग्रह में यत्नशील के रूप में देखता है। **इसीसे डेकार्ट द्वैतवादी इसलिए है कि वह चेतना को एक अन्य सत् का अवलंबन देना चाहता है और सांख्य इसलिए क्योंकि वह चैतन्य को पूर्णतः स्वरूप-विश्रान्त देखना चाहता है।**

दो भिन्न संस्कृतियों में रूढ़ कुछ मुख्य दर्शनों की तुलना के बाद अब हम एक ही संस्कृति में रूढ़ दर्शनों में तुलना के दो-एक उदाहरण देखेंगे। इसके लिए प्रथम हम शून्यवाद सांख्य और शांकर वेदान्त को लेंगे। इन तीनों की दार्शनिक अभीप्सा परम अन्वेष्य का सन्धान है और तीनों की दार्शनिक दृष्टि समान रूप से मनुष्य को संसार में आत्म-वहिष्कृत देखती है और इसके इस आत्म-विलगाव या प्रवास (सेल्फ एलिअनेशन) को अविवेक-जन्य, (अध्यास-रूप) मानती है। ये तीनों प्रवास-जन्य दुःख से मुक्ति (अथवा कहें, परमार्थ की उपलब्धि) को भी सम्भव मानते हैं। ऐसी परिस्थिति में इनमें भेद केवल संरचनात्मक रह जाता है। सांख्य और शंकर दोनों परमार्थ को निरुपाधिक, अविकल चित्-सत् के रूप में देखते हैं, किन्तु शंकर इसे आनन्द-स्वरूप भी देखते हैं; जबकि सांख्य और नागार्जुन ऐसा नहीं देखते। वास्तव में नागार्जुन इसे चित् भी नहीं कहना चाहते, क्योंकि यह भी उसका निरूपण ही हुआ।

उदाहरण के लिए वे माध्यमिक कारिका में तथागत के लिए कहते हैं—''जो बुद्ध को प्रपंचातीत तथा अव्यय प्रपंचित करते हैं, वे प्रपंच से ही विमूढ़ हैं, वे तथागत को नहीं जानते। तथागत का वही स्वभाव है, जो जगत् का। दोनों ही निःस्वभाव हैं''।[१] इसी प्रकार ''वे निर्वाण के लिए कहते हैं—''निर्वाण न भाव है, न अभाव। उत्पत्ति निरोध का सापेक्ष क्रम संसार कहा जाता है। उसी की निरपेक्षतया अप्रवृत्ति को निर्वाण कहते हैं। संसार और निर्वाण में किसी प्रकार का भेद नहीं है। परमार्थ समस्त उपालम्भ एवं प्रपंच का उपशय है।''[२] किन्तु यह भेद रहते हुए भी इन तीनों में यह भेद मौलिक नहीं हैं, क्योंकि जिसे नागार्जुन अपरमार्थ कह रहा है, और इसी प्रकार जिसे वह परमार्थ कह रहा है उसे ही शंकर और सांख्य भी यही कहते हैं; किन्तु जगत् को लेकर तीनों में संरचनात्मक अन्तर हैं। प्रथम, इस अन्तर को यदि हम आत्म-विलगाव की पदावली में देखें तो सांख्य और नागार्जुन दोनों मनुष्य को परमार्थतः प्रवासित नहीं देखते, क्योंकि नागार्जुन के अनुसार समस्त उपालभ और प्रपंच निःस्वभाव है और सांख्य के अनुसार इतर, अर्थात् प्रकृतिमूलक है; किन्तु शंकर इसे आत्म-प्रवास के रूप में ही देखता है, क्योंकि उसके अनुसार परमार्थ-तत्त्व ही विवर्त के द्वारा जगत् (मनुष्य की जागतिकता) है; किन्तु सांख्य और नागार्जुन भी मनुष्य को आत्म प्रवासित, आत्म-विलग देखते ही हैं। अन्तर यह है कि यह आत्म-विलगाव पारमार्थिक नहीं है, क्योंकि इनमें विवर्त या परिणाम मनुष्य के परमार्थ सत् का स्पर्श नहीं करते। किन्तु तब इनसे प्रश्न होगा कि इस प्रवास की कारणभूत अविद्या साधिष्ठान है, याकि निरधिष्ठान? नागार्जुन का उत्तर है कि यह निरधिष्ठान है, सांख्य का उत्तर है इसका अधिष्ठान अचित् में, अपरमार्थ सत्[३] में, है; किन्तु इस सम्बन्ध में शंकर का उत्तर अस्पष्ट है, क्योंकि वह एक ओर इसका अधिष्ठान ब्रह्म में मानता है और दूसरी

१. कोई कह सकता है कि डेकार्टीय चैतन्य भाव नहीं होकर क्रिया है : विचार क्रिया; किन्तु यह द्रष्टव्य है कि विषय की सापेक्षता में यह क्रिया रूप नहीं है, ज्ञान रूप वस्तु ही है।

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय—**बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास**, हिन्दी समिति, उ० प्र० लखनऊ पृष्ठ ३९०।

२. वही, पृष्ठ ३९१

३. सांख्यीय प्रकृति को मैं अपरमार्थ सत् इसलिए कह रहा हूँ कि जबकि सांख्य प्रकृति पुरुष से पृथक् तत्त्व मानता है, वह इसे स्वाश्रयी नहीं मानकर पुरुषाश्रयी मानता है—देखिए सांख्यकारिका-संघार्थंत परार्थत्वात्...., का० १७।

ओर इसे मात्र व्यवहार और परमार्थ-शून्यता भी मानता है। इस प्रकार इन तीनों दर्शनों की संरचनाओं के मूल घटक : मानव-जगत्, इसका अधिष्ठान, और इसका परमार्थ हैं। संरचनात्मक दृष्टि से इन दर्शनों की और आगे भी तुलना की जा सकती है, जो रोचक भी होगी; किन्तु यहाँ हम उसमें विस्तार से नहीं जायेंगे। यहाँ हम केवल इनके कारण-सिद्धान्तों का उल्लेख करेंगे : शंकर और सांख्य सत्कार्यवादी है; किन्तु इनमें प्रथम विवर्तवादी और दूसरा परिणामवादी है। इनमें यह अन्तर इनके अविद्या के अधिष्ठान के सिद्धान्तों में अन्तर से सम्बन्धित है, यद्यपि कार्य के कारण में लय को सांख्य भी स्वीकार करता है और यह परिणामवाद से संगत नहीं है; किन्तु जगत् को अचित् में अधिष्ठित देखने के कारण सांख्य इसे अपेक्षाकृत अधिक स्वरूपवान् मानने में उतना नहीं झिझकता जितना शंकर और नागार्जुन झिझकते हैं। नागार्जुन परिणाम या विवर्त कुछ स्वीकार नहीं करते, वे केवल जगत् में कारणता देखते हैं जो सत् और असत् कार्यवाद दोनों से भिन्न जगत् की निस्स्वभावता की ही द्योतक है। इस प्रकार इन तीनों दर्शनों में संरचनात्मक अन्तर है, जो इनके जगत्-विषयक विचार में संरचनात्मक अन्तर से सम्बन्धित है।

इस प्रकार हमने समान अभीप्सा पर आधारित तीन दर्शन-सम्प्रदावों में संरचनात्मक सम्बन्ध को देखा। जैसाकि हमने देखा, इनमें कुछ संरचनात्मक समानताएं हैं और कुछ भेद हैं; किन्तु यह देखना कठिन नहीं है कि ये भेद एक ही परत नीचे जाकर समान आधार पर प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं।

किन्तु एक ही संस्कृत परम्परा में अभीप्सात्मक और संरचात्मक दोनों दृष्टियों के भिन्न दर्शन-प्रस्थान भी हो ककते हैं, जैसे शून्यवाद और मीमांसा, या वेदांत और चार्वाक। किन्तु यहाँ हमारा प्रसंग यह देखना नहीं है कि संस्कृति में ये भेद क्यो और कैसे होते हैं? हमारा प्रसंग केवल यह देखना है कि क्या विभिन्न दार्शनिक अभीप्साएँ एक ओर और विभिन्न दार्शनिक संरचाएं दूसरी ओर, क्रमशः किसी आधारभूत अभीप्सा और एक आधारभूत संरचना को लक्षित करती हैं?

× × × ×

ऊपर हमने कुछ दार्शनिक प्रयत्नों की प्रेरक अभीप्साओं और उनकी तार्किक संरचनाओं का अवलोकन किया जैसाकि हमने आरम्भ में कहा था, तुलनात्मक दर्शन का कार्य विभिन्न दार्शनिक प्रयत्नों या प्रस्थानाओं में रूपैक्य खोजना नहीं बल्कि विलक्षणताओं और भेदों को एक आधार से अनेक रूप लेते देखना है। यहाँ उदाहरणार्थ लिये गए सभी दर्शनों में अभीप्सा मनुष्य के तत्त्व का सन्धान है; किन्तु वास्तव में

यह अभीप्सा दार्शनिक प्रयत्न मात्र की मूल प्रेरक अभीप्सा है, जो विभिन्न संस्कृतियों के दर्शनों में, और कभी-कभी एक ही संस्कृति के विभिन्न प्रस्थानों में, विभिन्न प्रकार से अवधारित हुई है। ऊपर आलोचित भारतीय दर्शनों में यह अभीप्सा मनुष्य का तत्त्व, उसका स्वरूप, उसके प्राप्त लौकिक अस्तित्व के परे देखती है। ठीक यही दृष्टि ग्रीस की भी है, विशेषतः सुकरात, प्लेटो और अरस्तू की; किन्तु लोक के इस अतिक्रमण में भारतीय दृष्टि पर्यन्तता तक पहुँच कर ही विश्राम लेती है और इस प्रकार उस सबको अनात्म व्यवधान और आवरण मान कर छोड़ देती है, जो किसी भी प्रकार के आगन्तुक और औपाधिक कल्पित किया जा सकता है। इसमें ये दर्शन स्वयं अभीप्सा आत्मा और परमार्थबोध तक को उपाधि कह कर त्याग देते हैं। आलोचित पाश्चात्य दर्शनों में भी यह अभीप्सा लोकोत्तर-मुखीन ही अधिक है; किन्तु वह पर्यन्तगामिनी नहीं है। काँट अपनी ज्ञानमीमांसा में केवल मानवज्ञान को ही अनुसन्धेय मानता हैं और कर्ममीमांसा में जिस तत्त्व को साध्य मानता है, वह मानवीय परमार्थ ही है। इस परमार्थ की साधना के प्रसंग में मनुष्य का वह सम्पूर्ण अस्तित्व (दैहिक-ऐन्द्रिक अस्तित्व) अनात्म में रूपान्तरित हो जाता है जो ज्ञान के सन्दर्भ में उपादान-भूत है। इसी प्रकार डेकार्ट में भी, उसके दर्शन की अभीप्सा भी मनुष्य के परमार्थ का सन्धान ही है। वह ज्ञान के असन्दिग्ध आधार की खोज में हनुमानजी के समान अस्तित्व के उन सारे मनकों को अप्रामाणिक कह कर फेंक देता है, जिसमें आत्मा की छवि नहीं हैं, और तब स्वयं इस आत्मा को भी अपूर्ण पाकर उसे ईश्वर के सम्मुख समर्पित कर देता है। किन्तु जैसा कि हमने पीछे देखा, ये दोनों दार्शनिक वैयक्तिक अस्तित्व की मूल उपाधि का परित्याग नहीं कर पाये। यद्यपि इन अभीप्सा के सन्धान की यात्रा में ये पर्यन्तता मनुष्य के आगे ईश्वर को ही मानते हैं; किन्तु तब भी इन दो अभीप्साओं में अन्तर स्पष्ट है। वास्तव में पश्चिमी संस्कृति में मनुष्य के प्रस्तुत रूप का आकर्षण इतना अधिक है कि वह सत्ता का हो मानदण्ड बन जाता है, जबकि भारतीय संस्कृति उसके प्रस्तुत रूप को कोई महत्त्व नहीं देती और उसे कर्म-भोग के प्रसंग में सम्पूर्ण जीवसृष्टि के साथ और कर्तृत्व के प्रसंग में निरूपाधिक परम सत् के साथ एकाकार कर देती है। किन्तु यदि उपर्युक्त तीन पाश्चात्य दर्शन-प्रस्थानों की इस दृष्टि से तुलना आधुनिक आंग्ल-अमरीकी दर्शन तार्किक : प्रत्यक्षवाद और लोक-भाष-विश्लेषाणवाद : से करें, तो इन दो वर्गों की दार्शनिक अभीप्साओं में और अधिक अंतर प्रतीत होगा। वास्तव में प्रथम दृष्टि से तो यही प्रतीत होता है कि दूसरे दर्शन सम्प्रदाय में 'अभीप्सा' शब्द के प्रयोग का ही कोई औचित्य नहीं है, ये दर्शन अभीप्सा जैसी वस्तु को दर्शन के लिए नितांत अवांछनीय मानते हैं। बर्ट्रेंड रसल 'ज्ञान के लिए ज्ञान, को ही दर्शन का कर्तव्य मानते हैं और यह ज्ञान

उनके अनुसार संवेद से सत्यापनीय बौद्धिक व्यवस्था मात्र है। तब मनुष्य के सुख-दुख, नीति-अनीति, अभ्युदय-निश्श्रेयस् का क्या स्थान होगा ? इसके लिए उनका उत्तर है कि दर्शन के लिये ये भी उपर्युक्त प्रकार के ज्ञान के विषयों के रूप में परीक्ष्य होकर ही प्रासङ्गिक हो सकते हैं, अन्यथा नहीं, और दर्शन को पूर्णतः निर्मम होकर सुख, नीति और निश्श्रेयस् का विचार छोड़कर, इनकी अनुभविक परीक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए। दर्शन के सम्बन्ध में रसल की यह स्थापना आधुनिक अनुभववादी दर्शन की प्रतिनिधि स्थापना कही जा सकती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह दर्शन-सम्प्रदाय अभीप्सा शून्य है; इसकी अभीप्सा सत्य है, जिसका मानदंड मानव-ज्ञान है। किन्तु इस सम्प्रदाय के उपसंप्रदायों और इनके विभिन्न दार्शनिकों में अभीप्सा की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर भी है। इनमें एक ओर सूर, रसल, हेयर आदि हैं तो दूसरी ओर कार्नप, न्यूराथ, श्लिक, राइल और स्टावेसन आदि हैं। इनमें प्रथम वर्म के दार्शनिक उतने भौतिकवादी वैज्ञानिकतावादी नहीं हैं जितने दूसरे वर्ग के; किन्तु तब भी इनमें अन्तर मौलिक नहीं है। अधिकांश में भेद प्राविधिक ही है, क्योंकि इन दोनों वर्गों के दार्शनिकों के विए परमार्थ-संवेद ग्राह्य ही है।

किन्तु इस दर्शत्र-सम्प्रदाय का उपर्युक्त पांच सम्प्रदायों से अभीप्सा की दृष्टि से अन्तर यह नहीं है कि इसके लिए अभीप्सित मनुष्य के परमार्थ का सन्धान नहीं हूँ, बल्कि यह है कि यह दर्शन इस परमार्थ का स्वरूप उपर्युक्त दर्शनों से भिन्न देखता है। उदाहरण के लिए अपने लेख 'राजनीति और दर्शन'[1] में बर्टण्ड, रसल प्लेटों, हेगल आदि की आलोचना इस आधार पर करता है कि उन दर्शन-व्यवस्थाओं से मनुष्य और समाज का जो रूप उभरता है उसमें समाज व्यक्तिस्वातंत्र्य की साधक व्यवस्था के रूप में नहीं रह कर व्यक्ति के ऊपर एक स्वतंत्र और उससे अधिक मूल्यवान् व्यवस्था हो जाता है। दूसरे शब्दों में, रसल के अनुसार प्लेटो और हैगल के दर्शन-सिद्धान्तों की असत्यापक कसौटी यह है कि इनके सिद्धान्त समाज और राजनीति की समग्रवादी (टोटेलेटेरियन) व्यवस्था के उपकारक हैं और इसके विपरीत उसका सिद्धान्त सामाजिक व्यवस्था को व्यक्ति की अपनी इच्छाओं के साधक उपकरण के रूप में देखता है। इस प्रकार रसल के अनुसार, परमार्थ का अनुसंधान वास्तव में मनुष्य के परमार्थ से पृथक् नहीं है और दर्शन के लिए उसी का अन्वेषण अभीप्सित है।[2]

१. B. Russall-Philosophy and Politics, in William Ebenstion (ed.) Modern Political Thought, pp. 8-20. Oxford & I. B. H. Publishing Co., New Delhi.

२. इस विचार का कॉर्ल पॉपर ने अपनी पुस्तक Open Society and Its Enemies, में विस्तार किया है।

यहाँ सन्देह हो सकता है कि कुछ दार्शनिक प्रयत्नों या कृतियों में यह अभीप्सा-स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होती, जैसे कार्नप, श्लिक या क्वाईन में, किन्तु इस आधार पर उनकी कृतियों को कम दार्शनिक नहीं कहा जा सकता। इसके उत्तर में हम कहना चाहेंगे कि कोई कृति दर्शन के रूप में परिभाषित अभीप्सा से नहीं होती बल्कि संरचना से होती है। उदाहरण के लिए "प्रतिज्ञप्ति क्या है" इस पर विचार दार्शनिक होगा; किन्तु इस विचार का अभीप्सित उसमें प्रत्यक्ष लक्षित नहीं होगा; किन्तु ऐसी कृतियाँ तब पूर्ण दर्शन नहीं कही जा सकतीं, केवल दार्शनिक प्रयत्न ही कही जा सकती हैं। हमारे प्रतिपादन पर दूसरी आपत्ति यह हो सकती है कि दार्शनिक अभीप्सा मनुष्य के तत्त्व या परमार्थ का संधान नहीं होकर तत्त्वमात्र, या परमार्थमात्र का संधान हो सकती है। प्रथम दार्शनिक विस्मय अपने अस्तित्त्व के साक्षात्कार पर नहीं, विराट् विश्व के साक्षात्कार पर हुआ होगा। प्लेटो ने तत्त्वमीमांसा को आत्मा द्वारा पराज्योति के साक्षात्कार के लिए आकुल उड़ान कहा है। किन्तु यह आपत्ति उचित नहीं है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह विस्मय तब तक दार्शनिक स्तर पर नहीं उठता जब तक विराट् पर विस्मय से अभिभूत आत्मा का साक्षात्कार नहीं। कांट जब ऊपर तारकित नभ की प्रशांत विराट्ता में अपने प्रातिभासिक अस्तित्व की नगण्यता से अभिभूत होता है तब उसका विस्मय तत्त्वमीमांसीय स्तर ग्रहण करता है; किन्तु तब वह केवल काव्यात्मक विस्मय ही रहता यदि वह अपने को विस्मय की अनुभूति तक ही सीमित रहता। इसके दार्शनिक विस्मय के स्तर पर उठने के लिए इसका आत्म-विषयक तटस्थ बोध में प्रतिष्ठित होना आवश्यक है।

अभीप्सा विषयक यह निष्कर्ष दार्शनिक संरचना से सम्बन्धित है, जिसका वैशिष्ट्य इसे एक ओर ललित कलाओं से और दूसरी ओर विज्ञान से पृथक् करता है। दर्शन वास्तव में अपनी संरचना में ही नहीं, अभीप्सा में भी इन दोनों से भिन्न है। वैज्ञानिक अभीप्सा द्विमुखीन है। अपने उदात्त रूप में यह विषयगत तत्त्व का अवगमन है और लौकिक रूप में, जो कि इसका आदिम रूप है, यह विषय का उपयोगात्मक नियोजन है, और कलाएं रागात्मक विषयित्व का विमर्श-वृत्ति के माध्यम से उत्तानीकरण (इन्टेंसिफिकेशन)। दर्शन इसके विपरीत सब वृत्तियों को प्रेक्षकत्व में उपसंहृत कर इस प्रेक्षकत्व के अवगमन की अभीप्सा करता है। मानव के स्वरूपावगमन का यही अर्थ है। इस कथन की सत्यता इस बात से देखी जा सकती है कि दर्शन चेतना की अन्य सब विधाओं का अपनी चर्या में अन्तर्भाव करता है। इस चर्या के अनुरूप ही इसकी आदिम संरचना है। यह आदिम संरचना है ज्ञान का आत्मोन्मुख (प्रत्यङ्मुख)

अध्यवसाय। उदाहरण के लिए तार्किक प्रत्यक्षवाद को लें, जिसके दार्शनिकों को इस प्रकार के शब्दों से एलर्जी है। वे दर्शन का कार्य विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियों का विश्लेषण-विवेचन मानते हैं। विट्गिंस्टाइन के अनुसार, जिसका अनुसरण तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने किया, दर्शन दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियों का संकलन नहीं है।[1] क्योंकि उसके अनुसार, ऐसी कोई प्रतिज्ञप्तियाँ ही नहीं हैं। प्रतिज्ञप्तियाँ उसके अनुसार, विषय-जगत्-मूलक आख्यानों से सम्बन्धित हैं। दर्शन का कार्य केवल इन प्रतिज्ञप्तियों का स्पष्टीकरण करना है।[2] कार्नप ने इसी दृष्टि को आगे भाषा के मैटीरियल मोड (विषयोन्मुख व्यवसाय) और फोर्मल मोड (आकारोन्मुख व्यवसाय) में भेद के रूप में विकसित किया और दार्शनिक प्रतिपादनों को भाषा का आकारोन्मुख व्यवसाय कहा। भाषा के अतिक्रामी स्तरों (लेयर्स आफ मैटालेंग्वेजिज) की अनन्त शृंखला-विषयक यह दृष्टि वास्तव में आत्मोन्मुख चैतन्य-परक दृष्टि ही है और कुछ नहीं; किन्तु विट्गिंस्टाईन और प्रत्यक्षवादी इसे चैतन्य की बुद्धि-वृत्ति के रूप में नहीं देखकर भाषागत आकारों के रूप में ही देखते हैं। किन्तु यह केवल पूर्वाग्रह है; वास्तव में इस प्रकार दर्शन की प्रत्युङ्मुख प्रकृति का निरूपण जितना स्पष्ट रूप से तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने किया उतना अन्य किसी ने कम ही किया होगा। इसका एक कारण यह भी है कि दर्शन के स्वरूप पर पहले कभी इस आग्रह के साथ विचार नहीं किया गया (यद्यपि इसका कारण यह था कि ये लोग अपने भौतिक विज्ञानाग्रह के कारण दर्शन के कार्य के प्रति संदिग्ध-चित्त थे और इस क्रम में उन्होंने इसके लिए एक कार्य खोजा जो, इनके विचार में, विज्ञान की चाकरी का था।) जो भी हो, यहाँ हमारे लिए द्रष्टव्य यह है कि विभिन्न दार्शनिक प्रयत्नों के रूप और मुद्राएं क्या वास्तव में इस संरचना की ओर अपने निदर्श (मॉडल) के रूप में संकेत करती हैं? इसके लिए हम हॉब्स के इस कथन को, कि "पत्थर का अस्तित्व है या नहीं, यह उसे ठोकर मार कर देखा जा सकता है" और मूर के इस कथन को कि "यह मेरा दायाँ हाथ है और यह बायाँ हाथ, इसलिए यह सिद्ध है कि बाह्य विषयों का अस्तित्व है" उदाहरण रूप में लेंगे। ये दार्शनिक प्रयत्न गोएथे के उन पौधों का स्मरण दिलाते हैं जिनके पत्ते या तने अपनी अभिवृद्धि के क्रम में बाधित होने से अपने आदर्श आकार को सिद्ध नहीं कर पाते। किन्तु ये कथन यदि दार्शनिक विचार के उदाहरण हैं तो इनमें उसी आधारभूत नियोजक दार्शनिक नियम को अवरुद्ध और विकृत होते दिखायी देना चाहिए जो प्लेटो या कांट में, अथवा नागार्जुन और वसुबन्धु में, स्वस्थ रूप में विकासमान दिखायी देता है। यह बहुत सरलता से देखा जा सकता है। हॉब्स और मूर की ये प्रतिज्ञप्तियाँ तर्कतः डेकार्ट की

---

1. विट्गिंस्टाइन, लुडविग-ट्रेक्टेटस लौजीको फिलोसोफीकस, ४.११२.
2. वहीं, ४.००३१.

इस प्रतिज्ञप्ति के अनुरूप हैं कि "मैं सन्देह कर रहा हूँ, यह असन्दिग्ध है, और इसी से, मैं हूँ यह भी असंदिग्ध है।" इन तीनों प्रस्थापनाओं में सत्ता का स्वरूप सन्देह-दृष्टि में सन्निविष्ट है और उसी दृष्टि के अन्तर्गत स्वप्रकाशन-मूलक असन्दिग्धता के मार्ग से पुनः अधिगत है : हॉब्स को सन्देह है कि क्या बाह्य विषयों का अस्तित्त्व है ? इसके उत्तर के लिए वह बाह्य विषय की अवधारणा की ओर लौटता है और पाता है कि संवेदन-मूलक ज्ञान-वृत्ति अपने अस्तित्त्व के साथ अपने से लक्षित के अस्तित्त्व के लिए भी प्रमाण है। रसल, बर्कले का अनुसरण करते हुए, हॉब्स द्वारा संवेदन से संवेद्य के अस्तित्त्व को स्वतःप्रमाण मानने को अयुक्त कहता है। इनमें कौन युक्त है, या कोई भी युक्त है, इस पर यहाँ विचार प्रासंगिक नहीं होगा; किन्तु रसल की इस आपत्ति से यह स्पष्ट है कि ये दोनों दार्शनिक पत्थर पर या पत्थर की भौतिक वस्तुता पर विचार नहीं करके ज्ञान के प्रामाण्य पर विचार कर रहे हैं, और इसमें किसी असन्दिग्ध आधार को भी अस्पष्टतः स्वीकार कर रहे हैं। केवल हाब्स और मूर यहाँ रसल की अपेक्षा इस सम्बन्ध में कम स्पष्ट हैं। इस प्रकार बोध की न्यूनता केवल इन दार्शनिकों में ही नहीं मिलती है, अन्य बहुत से दार्शनिकों में भी देखी जा सकती है; किन्तु जिन दार्शनिकों में इस प्रकार का भ्रम नहीं है उनमें भी अपनी दृष्टि के प्रकाश-पथ से स्खलन अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए डेकार्ट चैतन्य की प्रत्यङ्मुख साक्षात्कार-मूलक आत्म-प्रतिष्ठा को मनस् द्रव्य का अस्तित्व समझ लेता है और तब भौतिक द्रव्य से उसके सम्बन्ध के प्रश्न पर ऐसे विचार करता है मानो दोनों भौतिक वस्तुएं हों, और इस तरह उन्हें पाइनिअल ग्लैंड में सम्बन्ध में आते देखता है। वास्तव में दार्शनिक विचार के लिए द्रव्य की कोटि ही अयुक्त है, क्योंकि यह प्रायः ही अपारदर्शी ग्रन्थि का रूप लेने लगती है। इसी प्रकार सांख्य-दार्शनिक पुरुष को स्वरूप-विश्रान्त चैतन्य और प्रकृति को पुरुषनिमित्तक जड़ क्रियात्मकता के रूप में मानकर इस दृष्टि के अनुकूल पदावली का आविष्कार करने में असमर्थ रहकर रूपकात्मक भाषा का सहारा लेते हैं; किन्तु तब बहुत बार यह भूलते दिखाई देते हैं कि वे रूपकों का प्रयोग कर रहे हैं।

संक्षेप में, दर्शन की आदिम आधार-संरचना विचारात्मक चैतन्य की प्रत्यङ्मुख वृत्ति है जो अवधारण या ग्रहण सामान्यतम प्रत्यय के माध्यम से करती है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यह आदिम संरचना और अभीप्सा विभिन्न सम्प्रदायों में बहुत भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई है और संरचनाओं के रूपों में ये भेद एक सीमा तक अभीप्सा के अवधारण में भेद के अनुगामी रहे हैं : कुछ सीमा तक अपनी दृष्टि के आशय के ग्रहण में भेद के और कुछ सीमा तक सांस्कृतिक स्वभाव-जन्य भेद के। उदाहरण के लिए प्लेटो के पार्मेनिडीज़ और नागार्जुन की विग्रह-व्यावर्तनी दोनों में वस्तु-स्वभाव की द्वन्द्वात्मकता का बोध लक्षित होता है। इस प्रकार ये दो दार्शनिक

अपनी संरचनात्मक दृष्टियों में एक बिन्दु पर पहुँचते प्रतीत होते हैं; किन्तु इनमें उपर्युक्त तीनों दृष्टियों से गंभीर अन्तर है जिससे इनकी कृतियों के रूप भी बहुत भिन्न हो गए हैं। यह रूप-भेद इस बात में नहीं है कि प्लेटो संवाद-रूप में और नागार्जुन कारिका-रूप में बात कहता है, बल्कि यह कि प्लेटो विकल्प-द्वन्द्व को भाव के दो पक्षों के रूप में देखता है और नागार्जुन विकल्प-द्वन्द्व को निस्स्वभावता-सूचक देखता है। इसके अतिरिक्त है इनके द्वारा तर्क, प्रमाण आदि उपकरणों और इनकी प्रयोग-विधियों में अन्तर। तुलनात्मक दार्शनिक अध्ययन का कार्य वास्तव में यही है कि वह देखे कि दो संस्कृतियों की दार्शनिक दृष्टियों अथवा दो संस्कृतियों के दार्शनिकों की दार्शनिक दृष्टियों में आदिम संरचना तथा आदिम अभीप्सा की अभिव्यक्तियाँ किस प्रकार परस्पर भिन्न हो रही हैं। इसके विपरीत हमारे यहाँ जो तुलनात्मक अध्ययन किये गए हैं उनमें किसी भारतीय दार्शनिक को किसी पाश्चात्य दार्शनिक के अनुरूप देखने का प्रयत्न किया गया है, जिसका कोई अर्थ नहीं है। वास्तव में दो संस्कृतियों में प्रतिष्ठित दो दार्शनिकों में बहुत गम्भीर अन्तर रहते हैं, जिसके कुछ उदाहरण हमने पीछे प्रस्तुत किये। वास्तव में इस प्रकार का अध्ययन करने की सर्वोत्तम विधि दूसरी है और वह यह कि एक संस्कृति में निष्णात दार्शनिक दूसरी संस्कृति के दार्शनिक के मूल अवधारण, या कहें मूल प्रत्यय के अन्तर्गर्भ में अपने को प्रतिष्ठित कर उसको ग्रहण करे और उस ग्रहण के उन अन्य आयामों और अन्य संभावनाओं का अवगाहन करने का प्रयत्न करे जिनको मूल दार्शनिक अपने सांस्कृतिक और व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों के कारण देख नहीं पाया। इस प्रकार का अध्ययन विभिन्न संस्कृतियों में परस्पर संवाद की संभावनाओं का पथ भी प्रशस्त करेगा। इस प्रकार का एक सहज उदाहरण बौद्ध दृष्टि के चीनी और जापानी अवधारणों में देखा जा सकता है। ये तीन रूप बहुत सीमा तक एक ही प्रत्यय या अवधारण के तीन विकार कहे जा सकते हैं। किन्तु यह तुलनात्मक अध्ययन नहीं होगा। तुलनात्मक अध्ययन इन तीन विकारों को एक मूल से पृथक् होते हुए देखने में होगा।

———

नामानुक्रणिका

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	३०	गम्य	अगम्य
७	६	विषयभाव	विषयिभाव
९	७	ग्रहण पश्चात-अव्यवहित	ग्रहण :पश्चात्: अव्यवहित
१०	६	वस्तुतः	वस्तुता
१०	१६-१७	यहां का स्पष्टीकरण	यहां यह स्पष्टीकरण
१०	१९	इस प्रत्यय 'आत्मोल्लेखन'	इस आत्मोल्लेखी प्रत्यय
१०	२१	यदि है आत्म-पर	यदि मैं आत्म-पर
१०	२३	अन्यता	अन्यथा
१०	२७	(संगीत में)	ध्वनि (संगीत में)
१०	२९-३०	कमाकृति	कलाकृति
१०	३०	वस्तुपरक 'विषयिमूलक'	अवस्तुपरक :विषयिमूलकः
११	३	लक्ष्य	लक्षण
११	४	तक पहला लक्षण	जहाँ तक पहला लक्षण
११	१२	घटक भी	घट में भी
११	१५	दैनिक	दैशिक
१२	१	यह है नहीं है	यह नहीं है
१२	२३	विषयभाव की द्रष्टा की वस्तुत्व	विषयि भाव की: द्रष्टा की: वस्तुता
१२	२६	पूर्वारक्षा	पूर्वापेक्षा
१३	९	यदि	यद्यपि
१३	१०	प्रकार के हैं	प्रकार हैं
१३	१७	योग्यता प्रतिपालन	योग्यता के प्रतिफलन
१३	२०	कर्त्तृ भोक्तृ बुद्धि	ज्ञातृ-कर्त्तृ-भोक्तृ बुद्धि
१३	२१	लय तथा पुरुष खोजता	लय पुरुष में खोजता
१४	२,३	किन्तु पाशवस्तरीय से	किन्तु ये पाशवस्तरीय
१४	२०	'अचैत्य'	'और'
१४	२४	कर्म	क्रम
१७	२	प्रतिबेधक प्रतिषिद्ध से	प्रतिषेधक प्रतिज्ञप्ति प्रतिषिद्ध से
१७	३	भिन्न प्रतिज्ञप्तियों	भिन्न सब प्रतिज्ञप्तियों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७	५	अवगुण्ठ	अवगुण्ठन
१७	१६	विवृत्ति	निवृत्ति
१७	१९	रहता है 'मैं'	रहता है : 'मैं'
१७	२०	ओर	और
१८	१	स्वर-भेद	स्तर-भेद
१८	६	के एक विषय रूप में	एक विषय के रूप में
१९	४	तब, छूंछापन असद्रूपता	तब इसका छूंछापन, असद्रूपता,
१९	२८	दृष्टि से आविर्भाव	दृष्टि के आविर्भाव
२०	२३	आग्राह्य	अग्राह्य
२१	४	माध्यम से	माध्यम में
२१	११	निराकृत	आत्मनिराकृत
२३	११३	उसी प्रकार, जो	उसी प्रकार, विषय वह है जो
३४	५	रंग है	रंग है;
२४	१५	शब्दों संवेद-प्रदत्तों	शब्दों में, यह संवेद-प्रदत्तों
२९	अंतिम	देखा होता, तभी	देखा हो तो ही
३०	५	किन्तु तब प्रश्न	तब प्रश्न
३०	अंतिम (पा०टि०)	हि : विधयो	हि: विषयो
३१	२०	होता है,	होता है :
३२	अंतिम	अपना आधार ही	अपना ही आधार
३५	७-८	यह नहीं जा सकता	यह नहीं कहा जा सकता
३५	२१	आत्म-व्यवहित	आत्मव्यवहितत्व
३७	८	विकल्प	: विकल्प :
३७	१३	क्रीड़ा से	क्रीड़ा को
३७	२०	अर्थ नहीं है	अर्थ यह नहीं है
३८	२१	तादात्म	तदात्म
३८	पाद टिप्पणी-१	छान्दोग्य	तैत्तिरीय
४०	५	उपयोग	उपभोग
४०	पा०टि० ३	विघ्नत्वादेवासो	विघ्नत्वादेवासौ
४०	४	प्राधान्यद्	प्राधान्याद्
४१	२६	उन्मूमल	उन्मीलन
४१	२६	भौतिक मनस् के	भौतिक के मनस् के

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३	१७	शित	सित
४४	२६	और दूसरे भाव	और दूसरे में भाव
ज५	१०-११	विषयिनिष्ठ-विषयिनिष्ठ	विषयिनिष्ठ-विषयनिष्ठ
४५	२७	तोयनिधीवगाह्य	तोयनिधीऽवगाह्य
४६	१०	नहीं होती या तो	नहीं होती, वह या तो
४६	१७	चित्रित-मूलक	चित्र-मूलक
४६	१९	माध्य	माध्यम
४७	१०	विचार आधार	विचार के आधार
४७	१८	हो नहीं सकता हो	हो ही नहीं सकता हो।
४७	अंतिम	उपपादान	उपादान
४७	६	आकारों ही	आकारों को ही
४९	८	किन्तु आकार	किन्तु यह आकार
५१	७-८	अगोत्व व्यावृत्ति	अगोत्व की व्यावृत्ति
५२	१	प्रयोजनारूप	प्रयोजनानुरूप
५२	१९	व्यष्ट्योपाधि	व्यष्ट्युपाधि
५२	२४	उनमें मानसिक	किन्तु उनमें मानसिक
५४	१५	और तब भी	किन्तु तब भी
५४	२३	मात्रा	यात्रा
५४	पा० टि०	लेखक की 'दर्शन का आरंभ-बिन्दु'	आगे 'दर्शन का आरंभ-बिन्दु; तथा
५५	१३	की कोटि भी बनायी जा सकती है	का कोटि-क्रम भी बनाया जा सकता है।
५५	पा० टि० ५	प्रातिभाजित ज्ञान	प्रातिभासिक ज्ञान
५६	४	निवक्तिक	निर्वैयक्तिक
५६	१२	और साथ ही	यह साथ ही
५६	१९	भाव (बींग) का	भाव (बींग) के
५६	२३	अर्थः वस्तुः आवरक	अर्थ :वस्तुः के आवरक
५६	२६	शब्द का वाक्य	शब्द या वाक्य
५६	२८	'गो' शब्द या वाक्य	'गो' शब्द का वाच्य
५७	२१	एवाधऽस्तात्	एवाधस्तात्
५८	२२	विकल्प परस्परस्वलक्षण	विकल्प स्वलक्षण सत्
५८	२३	कि वह	कि विषय
५८	२७	बहिर्मुख	प्रत्यङ्मुख
६०	१	बाधक और	बाधक है; और
६७	९	आपादान	आपादन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६०	पा० टि०	तैत्तिरी,···अनुवादक	तैत्तिरीय···अनुवादक
६१	१७	उपस्थान	उपस्थापन
६१	२०-२१	निर्माण-कार्य	निर्माण-काय
६२	१३	ज्ञान-व्यवस्थाएँ हैं	ज्ञान-व्यवस्थाएँ विषयोन्मुख···
६२	पा० टि० २	दिसम्बर के	दिसम्बर १९७९ के
६२	६	जिन्हें	जिनके
६३	१३	अनुसार सार्त्र के	अनुसार "सार्त्र के
६७	पा० टि० १-२	विषयापेक्ष	विषयापेक्षा
६७	पा० टि० ४	ही हैं	ही कहते हैं
६८	१	चर	चरण
६८	२३	अनुशरण	अनुसरण
६९	८	बौद्धिक भी विषय विकल्प	बौद्धिक विकल्प भी विषय
७३	५	व्यवत्युत्तर	व्यक्त्युत्तर
७३	अंतिम	बल्कि	जबकि
७४	१	के प्रस्तुत	को प्रस्तुत
७४	१८	विश्लेषणात्मक	संश्लेषणात्मक
७४	२४	इनमें	इसमें
७७	१६	पद से	पद में
७७	२९	'लें' सड़क पर	'सड़क पर'
७९	१५	'मौलिक'	'भौतिक'
८१	१५	प्रसांगिक	प्रासंगिक
८२	८	विषयविषय-निरपेक्ष	विषय-निरपेक्ष
८६	११	सीमाओं	सीमाओं में
८८	अंतिम	श्रेयकर	श्रेयस्कर
८९	६-७	जैसे अर्जुन गीता का	जैसे गीता में अर्जुन का
९०	७-८	मनुष्य जगत्-विषयक	मनुय की जगद्-विषयक
९०	१२	तथ्य अपने	तथ्य मेरे अपने
८२	८	बल्कि	जबकि
९६	१३	राय	राग
९७	१०	नहीं लेने	लेने
९७	१२-१३	दिवाली पर······नहीं है :	: दिवाली पर······नहीं है :
९९	१६	के लिए कर्म का अपने	के लिए अपने
१००	४	(ब्रह्म)	(ब्राह्म)
१००	११	और उतना ही	किन्तु उतना ही

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१००	२०	'पद'	'पर'
१०१	पा० टि० १३	पुस्तका	अध्याय
१०२	१८	यह आचरण दूसरे	यह आचरण है, दूसरे
१०२	२१-२२	बुद्ध भाव	बुद्ध में भाव
१०३	पा० टि० ७	'अजल और अजल'	'जल और अजल'
१०५	४	आशंकाओं	आकांक्षाओं
१०८	पा० टि०	यह पा०टि० पृष्ठ १११ पर होनी चाहिए और पाठ में इसका संकेत पंक्ति १५ के 'पूजा' शब्द पर होना चाहिए।	
१०९	१२	अकेले	अगले
५	१	भेद ही	भेद भी
११८	पा० टि०	gamus Teans	games geans
११८	,,	Minnesqte	Mirnesota
१२०	८	प्रतिमास	प्रातिभास
१२०	अंतिम	करना चाहिए	होना चाहिए
१२२	२, ५	चोम्स्की	चोम्स्कीय
१२२	११	शंकर हेगलीय	शांकर…हेगेलीय
१२४	१८	लाइनीज़	लाइब्नीज़
१२५	६	आधार-प्रत्यय के उदाहरण	आधार-प्रत्यय के अविशिष्ट उदाहरण होते हैं।, दूसरे प्रकार के विशिष्ट अपने आधार-प्रत्यय के उदाहण…
१२६	२	सुकरात और प्लेटो	सुकरात, प्लेटो और
१२७	८, ११	उदाहरणों, ऊपर	उदाहरण, ऊपरी
१२७	२८	को : अध्यवसाय लेकर :	अध्यवसायः को लेकर
१२८	१	विज्ञापित क्रिया	विज्ञापन-क्रिया
१२८	५	अन्तर्वस्तु सन्मुख	अन्तर्वस्तून्मुख
१२८	३०	बुद्धि-रूप था।	बुद्धि-रूप था :
१२८	३१	धर्मः	धर्म।
१३३	७	उपशय	उपशम
१३३	पा० टि० ५	३९०,	३९१
१२३	पा० टि० ८	प्रकृति पुरुष	प्रकृति को पुरुष
१३४	१९	संस्कृति	सांस्कृतिक
१३४	१९-२०	दृष्टियों के सकते	दृष्टियों से, सकते
१३४	२७	प्रस्थानाओं	प्रस्थापनाओं
१३६	१०-११	सूर, स्टावेसन	मूर, स्टीवेंसन

लेखक परिचय

२६ जून, १९२८ में फरीदकोट (पंजाब) में जन्म। गुरुकुल, रायकोट (जि. लुधियाना) में आरम्भिक शिक्षा के बाद स्वतंत्र अध्ययन। १९६५ में फरीदकोट से जयपुर में आगमन।

१९५४ में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् तथा दार्शनिक त्रैमासिक पत्रिका की स्थापना १९७८ तक; दो वर्ष के व्यवधान के साथ, दार्शनिक त्रैमासिक का सम्पादन, और १९८० तक परिषद् से क्रमशः मंत्री, उपाध्यक्ष और अध्यक्ष के रूप में सम्बन्ध। १९६८ से १९७१ तत्त्वचिन्तन त्रैमासिक पत्रिका का तथा १९७१ से १९७५ तक दर्शन-समीक्षा षाण्मासिक पत्रिका का सम्पादन।

निम्न पुस्तकों का लेखन—

पन्त का काव्य और युग (१९५१), मनस्तत्त्व (१९५७), दार्शनिक विश्लेषण (१९६१), ज्ञान और सत् (१९६७), संस्कृति : मानव-कर्त्तव्य की व्याख्या (१९६९), विषय और आत्म (१९७२) और निम्न का सम्पादन—

अनुभववाद (१९६०), समकालीन दार्शनिक समस्याएं (१९६६)।

OTHER OUTSTANDING PUBLICATIONS

1. History of India —*By E. Lethbridge* 160.00

2. A Vocabulary of the Kui Language [KUI ENGLISH] —*By Rev. W. W. Winfield* 60.00

3. Yoga Sāstra of Dattatreya with English Translation —*By B. M. Awasthi* 25.00

4. मनुष्य और जगत् वेदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष —डा. यशदेव शल्य 40.00

5. पातञ्जलयोग शास्त्र एक अध्ययन —डा. ब्रह्ममित्र अवस्थी 60.00

6. भारतीय न्याय शास्त्र एक अध्ययन —डा. ब्रह्ममित्र अवस्थी 60.00

7. वृत्ति समुच्चय Vol. Ist Part I & II —डा. ब्रह्ममित्र अवस्थी 75.00

In Press :

8. अलंकार कोश —डा. ब्रह्ममित्र अवस्थी

9. Yoga The Divine Path —*Ed. By B. M. Awasthi*

10. राजयोग साधना और सिद्धान्त —डा. ब्रह्ममित्र अवस्थी

Indu Prakashan

8/3 Roop Nagar

Delhi-7